



# गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० महावीर

एम.ए. (संस्कृत, वेद, हिन्दी) व्याकरणाचार्य  
पी-एच.डी., डी.लिट्.

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

सह-सम्पादक

डॉ० दिनशचन्द्र शास्त्री



गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - 249404

फरवरी - मार्च 2000	वर्ष 51 वां	खालिका - 2000
--------------------	----------------	---------------



मुख्य संरक्षक	:	डॉ० धर्मपाल कुलपति
संरक्षक	:	प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति
परामर्शदाता	:	डॉ० विष्णुदत्त राकेश प्रोफेसर - हिन्दी विभाग
सम्पादक	:	डॉ० महावीर निदेशक वैदिक शोध संस्थान
सह - सम्पादक	:	डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री
व्यवसाय प्रबन्धक	:	डॉ० जगदीश विद्यालंकार पुस्तकालयाध्यक्ष
प्रकाशक	:	प्रो० श्याम नारायण सिंह कुलसचिव
मूल्य	:	25 रुपये (वार्षिक)

# वेदमञ्जरी को न नश्यति?

स घा वीरो न रिष्यति यमिन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।

सोमो हिनोति मर्त्यम् ॥ ऋग्० १.१८.४

ऋषिः मेधातिथिः काण्वः । देवताः इन्द्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सोमः । छन्दः गायत्री ।

(सः) असौ (वीरः) शूरः सन् (घ) निश्चयेन (न रिष्यति) न नश्यति, (यं मर्त्यम्) यं मरणधर्माणम् (इन्द्रः) इन्द्रः, (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मणस्पतिः, (सोमः) सोमश्च (हिनोति) प्रेरयति । हि गतिवृद्धयोः, स्वादिः ।

हे मानवाः ! किं यूयं वीराःस्थ, मन्यध्वे च यज्जगतो विकटेषु मार्गेषु पदानि निदधाना यूयं केनापि रिपुणा क्षतविक्षता विनष्टाश्च न भविष्यथ । परं कदाचिदेवं तु नास्ति यत् काले समागते, भवतामेष विश्वासो वितथः सिध्येत, हृदये वेदनां गूह्याना भवन्तो विलपेयुः, चीत्कारं कुर्युः, कोलाहलं विदध्युः-अहो, हता वयं, वञ्चिता वयं, सर्वस्वं नाशितवन्तो वयमिति । यदि किञ्चिन्मात्रमपि सन्देहो मनसि विद्यते यद् विपत्सु दृढताधारणं कठिनमस्ति, अचलायमानता दुष्करा वर्तते, तर्हि समायात, अविनाशस्य वेदोक्तमुपायं कर्णगोचरीकुरुत । अहो, अविनाशः ! अविनाशः । महान् खल्वयं शब्दः । कियद् रहस्यमस्मिन् शब्दे सुरक्षितमस्ति । आत्मिकोऽविनाशः, भौतिकोऽविनाशः, वैयक्तिकोऽविनाशः, राष्ट्रियोऽविनाशः ! पदे पदे मनुजो विनश्यति । चरित्राद् विनश्यति, धर्माद् विनश्यति, सम्पदो विनश्यति, राष्ट्रियताया विनश्यति । सकलादपि विनाशाद् यदि त्राणं भवेत् तर्हि सा महत्युपलब्धिरस्ति । अविनाशः प्राप्यते तेन मर्त्येन यस्मै इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च प्रेरणां प्रयच्छति । इन्द्रो वर्तते अग्रगामितायाः, शौर्यस्य, अविचलतायाः, रिपुविदारणस्य, परमैश्वर्यस्य च प्रतिनिधिः । इन्द्रस्यैतानि वैशिष्ट्यानि वेदेषु पदे पदे वर्णितानि । अविनाशेच्छुकैर्जनैरिन्द्रस्य ता विशेषता हृदि निधेयाः । ब्रह्मणस्पतिर्वर्तते ज्ञानस्य, महत्तायाः, विशालतायाः, वृद्धेर्ब्रह्मवर्धसस्य च प्रतिनिधिः । ब्रह्मणस्पतेस्ते आदर्श अविनाशेच्छुभिरनुसरणीयाः । सोमोऽस्ति शान्तेः, रसमयतायाः, समस्वरतायाः, सर्जनशीलतायाः, सत्प्रेरणायाश्च प्रतिनिधिः । सोमस्यैते गुणा अविनाशाभिलाषुकैर्जनैरनुकरणीयाः, स्वजीवने धारणीयाः ।

एवं त्रयोऽप्येते देवाः, परमेश्वरीयसत्तायास्त्रीण्येतानि रूपाणि यदाऽस्मान् सत्कर्मसु प्रेरयन्ति, तदा संसारस्य कापि शक्तिरस्मान् परास्तान्, क्षतिग्रस्तान् विनष्टान् वा कर्तुं न पारयति । अन्यथा मनुष्यस्तु मर्त्यो वर्तते, मरणधर्मा विद्यते । एषां देवानां सकाशाद् यद्यसौ शक्तिं सन्देशं च न गृह्णाति तर्हि यः कोऽपि बाह्यः आभ्यन्तरो वा रिपुस्तं वशीकरिष्यति, प्रहारैर्जर्जरं च विधाय नाशयिष्यति ।

- आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः





## बोधरात्रि का सन्देश

संपूर्ण विश्व को मानवता का सन्देश देने वाले भारत वर्ष में समय-समय पर अनेक महापुरुषों का आविर्भाव होता रहा है। देवपुरुषों की इस परम्परा में युगनिर्माता महर्षि दयानन्द सरस्वती का नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। धन्य है गुजरात राज्य की टंकारां नगरी जहां बालक मूलशंकर ने जन्म लेकर विश्वकल्याण का संकल्प लिया था। भारतीय इतिहास में वह शिवरात्रि सदा स्मरण की जाती रहेगी, जिस रात्रि ने मूलशंकर के पवित्र हृदयमें सच्चे शिव को खोजने की अग्नि प्रज्वलित की थी। एक सामान्य सी घटना ने मूलशंकर के अन्दर हलचल मचा दी और मानवजाति के उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ममतामयी जननी का प्यार, पिता का दुलार, संसार का आकर्षण, धन, वैभव, सुख, सुविधा सब कुछ त्यागकर वह बालक सत्य की खोज में निकल पड़ा। नाना प्रकार के कष्ट सहें, हिंस-जन्तुओं से घिरे हुए बीहड़ वनों में भटकते रहे, लेकिन लक्ष्य से विचलित नहीं हुए, ईश्वर के सत्यस्वरूप के स्वयं दर्शन किये। संन्यास की दीक्षा ली, गुरु विरजानन्द के चरणों में बैठकर आर्षज्ञान प्राप्त किया और गुरु का आदेश पाकर अज्ञानान्धकार में भटकती हुई मानवता को सत्य मार्ग दिखाने की भीषण प्रतिज्ञा कर कर्म-क्षेत्र में कूद पड़े। विष के प्याले पिये, ईंटों और पत्थरों की वर्षा हंसते-हंसते स्वीकार की, स्वार्थी लोगों ने बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, भय भी दिखाये, किन्तु वे कर्तव्य-पथ पर बढ़ते ही रहे। परमात्मा के पवित्र ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के लिए वेद का भाष्य किया। अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की रचना की, अनेक शास्त्रार्थ किये, हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर पाखण्ड-खण्डिनी पताका फहराकर सारे संसार में फैले हुए पाखण्ड को ललकारा। १८७५ में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के संकल्प को साकार करने की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम बढ़ाया। उस समय भारत देश पराधीन था, अंग्रेज इस देश का धन वैभव लूटकर ले जा रहे थे और यह देश निर्धनता से अभिशप्त हुआ जा रहा था, महर्षि ने स्वाधीनता का शंखनाद किया। सर्वप्रथम स्वराज्य की उद्घोषणा की और फिर स्वाधीनता-संग्राम की ऐसी प्रबल-धारा प्रवाहित हुई कि अनेक वीरों ने अपने

जीवन—पुष्प मातृभूमि की अर्चना में समर्पित कर दिये। स्वामी श्रद्धानन्द, पं. लेखराम, पं. गुरुदत्त विद्यार्थी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द, महात्मा हंसराज, महात्मा नारायण स्वामी सदृश महापुरुषों ने अपने जीवन की आहुतियां देकर महर्षि के कार्य को आगे बढ़ाया। अमर शहीद रामप्रसाद बिरिमल, शहीदे आजम भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद प्रभृति देशभक्तों के बलिदानों से १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ।

महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश से प्रेरणा पाकर स्वामी श्रद्धानन्द ने हरिद्वार में गंगा के सुरम्य तटपर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। इस पुण्यभूमि में शिक्षा प्राप्त करने वाले यशस्वी स्नातकों ने वेदज्ञान के प्रकाश से देश को आलोकित कर दिया। गुरुकुलों की पावनधारा ने उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब की भूमि को पावन कर दिया। यह एक सुखद—स्वर्णिम इतिहास है आर्यसमाज का गुरुकुलों का, वैदिक संस्कृति का और राष्ट्र के निर्माण का।

मित्रों ! मूलशंकर को जगाने वाली महाशिवरात्रि प्रतिवर्ष आती है वर्षों बाद पुनः आई है, संसार को जगाने वाले आर्य समाज की स्थापना को १२५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। हम क्या थे और क्या हो गये, यह सोचने का क्षण पुनः उपस्थित हुआ है। कितने ऊंचे आदर्श लेकर आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी, हमारी विश्ववारा वैदिक संस्कृति कितनी महान् है, हमने सारी दुनियां को जीना सिखाया, प्रेम, अहिंसा, करुणा, दया और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। लेकिन आज दुनियां को जगाने वाला समाज स्वयं सो गया है। आपस की फूट और स्वार्थ परायणता ने संगठन को कमजोर बना दिया है। पाखण्ड बढ़ रहा है, देश भक्ति की भावना क्षीण होती जा रही है, नये—२ भगवान भोली—भाली जनता को दिग्भ्रमित कर रहे हैं। सीमायें आतंकित हैं, जातिवाद, प्रान्तवाद का दानव दनदना रहा है। भ्रष्टाचार की जड़ें मजबूत होती जा रही हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में देश पुनः वेद—ज्ञान से विभूषित, चरित्रवान् देशभक्त आर्यों की और आशा भरी नजरों से निहार रहा है। क्या ऋषिबोधोत्सव हमें अपने कर्तव्य का बोध करा सकेगा ? यदि शिवरात्रि के पावन पर्वपर हम अपने आत्मदीप को प्रज्वलित कर आस—पास का अन्धकार दूर कर सकें तो धीरे—धीरे संपूर्ण जगती का अन्धकार अवश्य दूर होगा।

अपने सुधी पाठकों के कर कमलों में गुरुकुल पत्रिका का यह अंक समर्पित करते हुए मेरी यहीं कामना है।

-डा० महावीर

# गीतायां सांख्ययोगः

कस्य न विदितं विपश्चितो भगवद्गीताया गुणगौरवम् । गीतेयं न केवलं प्रस्तवीति सर्वासामपि उपनिषदां सारभागम्, अपितु श्रुतिसारमपि प्रस्तौतितराम् । सेयं सरलया भावाभि व्यक्ति-प्रक्रियया, भूयिष्ठयाऽअर्थगंभीरतया, प्रेष्ठया पद्धत्या, श्रेष्ठया विवृतिसरण्या, साधिष्ठया योग साधनादीक्षया, वरिष्ठया आत्मविशुद्धि-शिक्षया सर्वस्यापि लोकस्य आदृतिम् अनुभवति ।

गीतायाम् अस्यां सर्वासामपि उपनिषदां सारः मनोज्ञया पद्धत्या साधुतरं विविच्यते । उपनिषत्सु ये भावाः केवलं दार्शनिक पद्धत्या नीरसशैल्या च समभिहिताः सन्ति, त एव भावाः साधिष्ठया भाव प्रकाशन शैल्या विशदं समासतश्च प्रस्तूयन्ते । गीता न केवलम् उपनिषदामेव अपितु समग्रस्यापि पूर्ववर्तिनो वाङ्मयस्य सारम् उपस्थापयति । अतएव गीता लोकप्रिया विश्वप्रिया चाभवत् । उक्तं च-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

गीतायाः सर्वविषयावगाहित्वेन, ज्ञान-विज्ञान समन्वयेन, अध्यात्मविद्याचरमोत्कर्षेण, जगतो विनश्वरता प्रतिपादनेन, कर्तव्याकर्तव्य-प्रबोधनेन, निष्काम-कर्म-दीक्षया, अनासक्ति-योग शिक्षया चेयं समेषामपि विपश्चितां हृद्या संजाता ।

अस्यां गीतायां दर्शनानां सारभूताः आदर्शरूपाश्च भावा रुचिरया भाषया अभिहिताः सन्ति । भारतीय दर्शनेषु-सांख्य योगौ प्राधान्यं भजेते । सांख्यदर्शनं नितरां प्राचीनं दर्शनम् । नास्तिसांख्यसमं ज्ञानम् । योगदर्शनं चापि मानवजीवनं सफलीकर्तुम् अमूल्यनिधिर्नस्ति । सत्यमेवाभिहितं- 'नास्ति योगसमं बलम्' । श्रीमद् भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन प्रतिपाद्यते यत् सांख्ययोगौ न पृथक्भूतौ यतो हि द्वयोरेकमुद्देश्यम्, एकैव च पद्धतिः । योगदर्शनं सांख्यप्रतिपादितान् सिद्धान्तान् क्रियायां परिणमयति । ज्ञानमुद्दिश्य सांख्यस्य यो विचारोवर्तते स एव योगस्यापि विद्यते ।

केचन दार्शनिकाः सांख्ययोगयोर्भेदं मन्वते । तेऽतत्त्वज्ञा इत्येवं भगवता कृष्णेन धर्ष्यन्ते। यथार्थतो विचारणे कृते सति लोके द्विविधा मानवाः दृग्गोचरी भवन्ति । एके ज्ञानयोगिनोऽपरे कर्मयोगिनश्च । ये बुद्धिजीविनस्ते ज्ञानयोगं प्रशंसन्ति, तमेव मार्गं चानुसरन्ति । ते निवृत्तिमार्गम् अनुसृत्य ब्रह्मतत्त्वं जिज्ञासन्ति । ये कर्मजीविनः सन्ति ते कर्मयोगं प्रशंसन्ति । अतएव गीतायां उभयविधस्य योगस्य वर्णनम् अवाप्यते । सांख्य समंतस्य ज्ञानयोगस्य वर्णनं क्रियते यत-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ गीता, २-३८

अस्मिन्नेव द्वितीयाध्याये कर्मयोगोऽपि वर्ण्यते-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ गीता, २-३९

सांख्ययोगयोः एकमुद्देश्यम्- दुःखप्रणाशेन ब्रह्मसाक्षात्कारो मोक्षाधिगमश्च । कमपि एकं मार्गम् आस्थितो जनो ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलम् अश्नुते । अतएव भगवता कृष्णेन प्रतिपाद्यते-

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः समयगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ गीता, ५-४

दर्शनतत्त्वज्ञाः सांख्ययोगयोः एकत्वम् अवधारयन्ति । ये द्वयोर्भेदं प्रतिपादयन्ति ते अतत्त्वज्ञाः । गीतायां सांख्ययोगयोरेकरूपतां स्वीकृत्वा पुनरपि प्रोच्यते-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ गीता ३-३

गीताया अनुशीलनेन इदं ज्ञायते यत् गीतायाः सांख्ययोगोनास्ति अक्षरशः महर्षि कपिलप्रणीतं सांख्यशास्त्रम्, नापि च निष्काम-कर्मयोगः पतञ्जलि प्रणीतं योगशास्त्रम् । श्रीमद् भगवद्गीतायाः मूलश्लोकानां सरलार्थे निभालिते सति मोक्ष प्राप्तये मार्गं द्वयं दृष्टिपथमुपैति, यत्र फले नास्ति भेदः । यथा सांख्यस्य, ज्ञानयोगस्य वा साधकः साधनारतः परब्रह्मणः स्वरूपं विज्ञाय मुक्तिमधिगच्छति, तथैव निष्काम कर्मयोग-साधकोऽपि भगवत्कृपया परब्रह्मणः तत्त्वज्ञानं संप्राप्य परमंपदं संप्राप्नोति-

तेषां सतत् युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

ते धामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (गीता १०/१०-११)

अत्रायमेव भेदो वरीवर्ति यत् सांख्ययोगेन सह विवेक-विचारस्य, शम-दमादि साधनानां, निष्काम कर्मयोगेन च सह भगवद्भक्तेः शरणागतेश्च विशिष्टः सम्बन्धो वर्तते । गीतायाः अष्टादशतमे अध्याये सांख्ययोगः ज्ञाननिष्ठाभिधानेन वर्णितः । यथा-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।



समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥  
 बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।  
 शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥  
 अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।  
 विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (गीता १८/४६ से ५२)

योगेश्वरः कृष्णः उपदिशति भो कौन्तेय । सर्वत्र आसक्ति बुद्धिरहितः विगतस्पृहः जितात्मा पुरुषः सांख्ययोगेनापि परमनैष्कर्म्यं सिद्धिं विन्दते । हे धनञ्जय । अन्तःकरण शुद्धिरूपां सिद्धिं प्राप्तः पुरुषः यथा सांख्य योगेन सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म प्राप्नोति तथैव तत्त्वज्ञानस्य या परानिष्ठा, तामपि त्वं मत्तः समासेन विजानीहि । निर्मल बुद्धियुक्तः, एकान्त सेवी मिताहारी, जितवाक् कायमानसः, दृढ वैराग्योपेतः पुरुषः सततं ध्यानयोगपरायणः सन् अहंकारं, बलं, दर्पं, काम क्रोधादिकं च विहाय सत्त्वगुण संपन्नया धारणया- शान्तः निर्ममश्च सच्चिदानन्दधने ब्रह्मणि एकत्वं विन्दते । तस्मिंश्च ब्रह्मणि अद्वैतरूपेण स्थितः प्रसन्नात्मा पुरुषः न शोचति नापि च कांक्षति । सर्वेषु भूतेषु समत्वमापन्नः तत्त्वज्ञानस्य पराकाष्ठा रूपां परमामीशभक्तिं प्राप्नोति । तथा च पराभक्त्या मां तत्त्वतोऽवगच्छति, तत्क्षणमेव च मयि प्रविशति । अनन्यभावेन प्राप्नोति । पुनश्च माम् वासुदेवमतिरिच्य तद् बुद्धौ न किमप्यन्यत् अवशिष्यते ।

अस्याः ज्ञाननिष्ठायाः साधक एव सांख्य योगी प्रोच्यते । सः प्रकृतिजं चमत्कारं तत्त्वतो विजानाति । इन्द्रियाणि स्व-स्व विषयेण विचरन्ति, आत्मा तु शुद्धः चेतनः निर्लिप्तः, अकर्ता, अभोक्ता च । एवं तत्त्वज्ञानोपेतः पुरुषः आत्मानं परब्रह्मणः भिन्नं न मनुते । स तु परब्रह्मपरमेश्वरस्यैव विस्ताररूपं निखिलं प्रपञ्चजातमिति सर्वात्मना स्वीकरोति । साधन काले सः प्रकृतिं, तस्याश्च विस्तृतिं आत्मनोभिन्नाम् अनित्यां क्षणिकां च मन्यते । आत्मानं च अकर्ता, अभोक्ता परब्रह्मपरमात्मनश्च अभिन्नं मन्यमानः परमेश्वरीं सत्तां सर्वत्र व्यापिनीं मत्वा साधनारतो भवति । पुनश्च तद्दृष्टौ सच्चिदानन्दधनं वासुदेवं विहाय नान्यद् किमपि तिष्ठति । अन्ते च सः अनिर्वचनीयं परमं पदं लभते ।

निष्काम कर्मयोगमाचरतां जनानां कृते परमेश्वरः उपदिशति 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' । अतो यूयं कर्मफलकांक्षिणः मा भवत । कर्मपरित्यागविचारोऽपि भवद्भिः नैव कार्यः । फलाकांक्षाम् आसक्तिं च परित्यज्य सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा सततं मामनुस्मर मय्यर्पितभावेन च सर्वाणि कर्माणि कुरुष्व-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्माभिवैष्यस्यसंशयम् ॥ गीता ८/७

भगवदाज्ञानुसारं साधनं कुर्वतः निष्काम कर्मयोगिनो भावः सकामपुरुषेभ्यः सर्वथा विलक्षणो भवति । सः यत् किमपि कर्म करोति, तत्फलकांक्षां न करोति, कर्मासक्तश्चापि न भवति । कर्मकुर्यात्: समापतितैः विधैः न विचलितो भवति । कर्मणः अपूर्णत्वे विपरीते वा परिणामे न दुःखमनुभवति । कृतकर्मणः कृत्स्नेऽपि फले संप्राप्ते अनुकूले च परिणामे न हर्षमनुभवति । निष्काम कर्मयोग साधकः कदापि दूषितं नाचरति, यतोहि पापकर्माणि प्रायो लोभेन आसक्त्यैव वा क्रियन्ते । निष्काम कर्मयोगपथि गच्छन् पुरुषः पूर्वमेव जहाति एवंविधानि कर्माणि । सः जगतः चराचरान् निखिलान् अपि जीवान् भगवतो मूर्तिस्वरूपान् मन्यते । अतो कस्यापि प्राणिनो प्रतिकूलं नाचरति । सः प्रत्येकं कर्म भगवदाज्ञानुसारं भगवति एव करोति । कस्मिन्नपि कर्मणि तस्य स्वार्थभावो न भवति । भगवदर्पणं खलुतस्य जीवितम् , अतएव कलत्र, पुत्र, धन, गृहादिषु स्वशरीरे वा तस्य ममत्वं नावशिष्यते । सः सर्वदा भगवत् प्रेम्णि निमग्नो भवति । सः सर्वथा ईश्वरे एव विश्वसिति । सांसारिकं दुःखं तादृशं भक्तं तस्याः अवस्थायाः परिचालयितुं न प्रभवति । अस्याः भगवदाश्रय रूपायाः कर्मयोग निष्ठायाः वर्णनं भगवता श्रीकृष्णेन एवं क्रियते-

सर्वकर्माप्यपि सदा कुर्वाणो मद्ब्यप्याश्रयः । मत्प्रसादादवान्मोहि श्लाश्वतं पदमव्ययम् ।  
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः । बुद्धि योगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।  
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । गीता. १८।५६-५८

एवं विधानां साधकानां कृते ईश्वरः प्रतिजानीते-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः, अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।  
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्, भवामि न चिरान् पार्थ मय्यवेशित चेतसाम् ॥

इत्थं गीतायां सांख्ययोगयोरेकमेव लक्ष्यं प्रतिपाद्यते । तथ्यमिदम् एवमपि अवगन्तुं शक्यते, कस्यापि लक्ष्यस्य संख्यानं, परिमितं याक्षातथ्यस्वरूपवर्णनं सांख्यः, तल्लक्ष्यप्राप्तये च साधन प्रतिपादनं योगः । इमौ उभावापि पन्थानौ भगवद्गीतायां रुचिरायां शैल्यां प्रतिपादितौ स्तः । नास्ति द्वयो कोऽपि विभेदः । अतः एवोच्यते-

यत्सांख्यैः प्राप्यते, स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ गीता- ५-५

-डॉ० महावीर, डी.लिट्  
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः,  
हरिद्वारम् ।



## आनन्द-षट्पदी

पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार वेदादि शास्त्रों में निष्णात होने के साथ-साथ ललित कलाओं के भी सच्चे पारखी एवं स्वयं उनमें प्रवीण थे। संगीत और काव्य दोनों में वे माहिर थे। हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में काव्य-रचना करके उन्होंने सरस्वती की आराधना की है। संस्कृत में उनका 'भक्तिलहरी' नामक गीति-काव्य अत्यन्त मंजुल है। इसके अतिरिक्त पण्डित जी की दो रमणीक काव्य-कृतियाँ 'आनन्द-षट्पदी' और 'कुलाद् वियुक्तस्य वियोगवार्ता' हैं, जो उनके हिन्दी गीत-संग्रह 'बिखरे फूल' में प्रकाशित हैं। उनकी एक प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी रीति की रचना 'दयानन्द-जन्मगाथा' है जिसके अनुष्टुप् छन्द में लिखित 9३ पद्य उपलब्ध हुए हैं। पण्डित जी के संस्कृत के कुछ फुटकर पद्य भी मिलते हैं। यहाँ हम उनकी 'आनन्द-षट्पदी' का रसास्वादन पाठकों को करा रहे हैं। इसमें मालिनी छन्द के छह पद्यों में ऋषि दयानन्द के विविध रूपों के प्रति उनका भक्त प्रणति प्रकाशित कर रहा है। शब्दसौष्टव और शब्दार्थालंकारों की छटा देखते ही बनती है।

गहनगिरिगुहासु ध्वान्तपूर्णाटवीषु  
हिमपिहितमुखासु श्रान्तसुप्तं नदीषु ।  
विधुमिव घनमालावारितं क्लान्तकान्तं  
कमपि विदितसारं नौमि बालं विशालम् ॥

“विदित बल वाले उस विशाल बाल अद्वितीय दयानन्द को मेरा प्रणाम है, जो गहन पर्वत-कन्दराओं में, अन्धकारपूर्ण अटवियों में, बर्फ से बन्द मुख वाली नदियों में थक कर चूर हुआ सो जाता था और जो मेघमाला से आच्छादित चन्द्र के समान क्लान्त होते हुए भी कान्त प्रतीत होता था।”

‘बाल होते हुए भी विशाल’ इसमें विरोधालंकार व्यङ्ग्य है। ‘बाल’ का अर्थ ‘अज्ञानी’ तथा ‘वि-शाल’ का अर्थ ‘घर-बार छोड़े हुए’ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ उस दयानन्द का वर्णन है, जो घर छोड़कर योग द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार करने की धुन में जंगलों में और बर्फ़ीले पर्वतों पर योगियों की तलाश में मारा-मारा फिर रहा था। यहाँ गिरिगुहा, अटवी और नदी इन अनेक प्रस्तुतों में ‘श्रान्तसुप्त’ का योग होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है। जैसे घनमाला से वारित चन्द्रमा क्लान्त होते हुए भी कान्त लगता है, ऐसे ही विपद्ग्रस्त होने के कारण क्लान्त होते हुए भी दयानन्द कान्त प्रतीत हो रहे थे, इसमें उपमालंकार है। यहाँ छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास की रमणीयता भी है।

हिमपरिगलदंङ्ग कण्टकक्षुण्णदेहं  
सततरुधिरधारालिप्तमप्युल्लसन्तम् ।  
तुहिनगिरिनितम्बे तेजसा भासमानं  
तरुणरविसमानं नौमि कञ्चिद् युवानम् ॥

“बर्फ से अंग गल जाते थे, कांटो से शरीर छलनी हो जाता था, रुधिर की धार से वह लथपथ हो जाता था, फिर भी उल्लसित दीखता था । हिमालय की चट्टान पर तेज से भासमान होता हुआ वह तरुण रवि के समान प्रतीत होता था । उस अद्वितीय युवा दयानन्द को मेरा प्रणाम है ।”

प्रथम पद्य में किशोर दयानन्द का वर्णन करने के उपरान्त इस द्वितीय पद्य में कवि युवा दयानन्द का चित्रण कर रहा है । यहाँ दुरवस्था प्राप्त होने पर भी उल्लसित होने के वर्णन में विरोधात्मकता का तथा ‘तरुणरविसमानम्’ में उपमा का सौन्दर्य है । दयानन्द को तरुण रवि के समान कहने में ‘तुहिनगिरिनितम्बे तेजसा भासमानम्’ यह वाक्यांश हेतु बन रहा है, अतः काव्यलिङ्ग अलंकार है ।

खलबलदलनायाऽसह्यभासा ज्वलन्तं  
सदयमथ दृगन्तमार्तलोके झरन्तम् ।  
दुरितकलुषितानां पावनं तीर्थराजं  
नमत कमपि शान्तिज्योतिषोः सङ्गमं तम् ॥

जो दुर्जनों का दलन करने के लिए असह्य तेज से जाज्वल्यमान था, जो पीड़ित जनों पर दयापूर्वक दृक्कटाक्ष बरसाता था, जो पापों से कलुषित हुए जनों को पवित्र करने वाला तीर्थराज था, उस ज्योति और शान्ति के अद्भुत संगम दयानन्द को प्रणाम करो ।”

इस पद्य में दयानन्द में तीर्थराजत्व का आरोप होने से रूपक अलंकार है । तीर्थराज कहने में ‘दुरितकलुषितानां पावनम्’ इन पदों का अर्थ हेतु बन रहा है, अतः काव्यलिङ्ग है । दयानन्द को ज्योति और शान्ति का संगम कहने में प्रथम तीन चरणों का अर्थ हेतु होने के कारण भी काव्यलिङ्ग है । अनुप्रास की छटा भी है ।

रुधिरपरिगतानां कातरालोकिनीनां  
विदययवनशस्त्रं वीक्ष्य कम्पाहतानाम् ।  
गतशरणगवामासान्त्वनं स्नेहसान्द्रं  
नमत कमपि गोपं दुर्जनासह्यकोपम् ॥

“उस गोरक्षक अद्वितीय दयानन्द को प्रणाम करो, जो खून से लथपथ, कातर दृष्टि वाली तथा निर्दय यवनों के शस्त्र को देखकर कांपती हुई अशरण गायों को सान्त्वना देने वाला था, जो स्नेह से भरपूर था तथा जिसका कोप दुर्जनों से असह्य था ।”

यहाँ काव्यलिङ्ग, परिकर, स्वभावोक्ति एवं अनुप्रास अलंकारों का अङ्गाङ्गिभाव संकर चारुता उत्पन्न कर रहा है ।

नयनजलकपोलक्षालिनीनामजस्रं  
विशरणविधवानां नेत्रनीरे प्रपूरे ।  
सदयमपि वहन्ती सान्त्वयन् मातृभूमिं  
चरमकरवलम्बी ध्यायतां कोऽपि वीरः ॥

“निरन्तर आंसुओं से कपोलों को धोने वाली असहाय विधवाओं के नेत्रजलों की बाढ़ में बहती हुई मातृभूमि को जिसने दयापूर्वक सान्त्वना देकर हाथ का सहारा दिया, आओ, उस वीर दयानन्द का ध्यान करें ।”

यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति अलंकार है, यतः विधवाओं के अश्रुजल में मातृभूमि का बहना सम्भव नहीं है, तथापि वैसा वर्णन किया गया है ।

नयनपथमुपेतैर्जीवनैरन्तकाले  
विगतसकलशक्तीन् मानवान् जीवयन्तम् ।  
प्रशममुपनयन्तं दुःसहेनापि धाम्ना  
प्रणमत शिरसा तं ज्योतिषां कञ्चिदन्तम् ॥

कवि ऋषि दयानन्द के अन्तकाल का वर्णन कर रहा है । अन्तिम समय में जब उनके प्राण नयनपथ से बाहर निकल रहे थे, तब वे मानो विगत शक्ति वाले मानवों को प्राणवान् कर रहे थे । अपने अन्दर से प्राण मानो इस हेतु से बाहर निकाल रहे थे कि जो शक्तिहीन हैं उनमें प्राण डालने हैं । जीवन शब्द का अर्थ जल भी होता है । अन्तकाल में जब भावनाएं अश्रुजल बनकर नेत्रपथ से बाहर निकलने लगीं, तब उस दृश्य को देखकर हिम्मत हारे हुए भी मानव उत्साह से अनुप्राणित हो उठे कि ऋषि का अधूरा छूटा कार्य हम करेंगे । ऋषि अपने चेहरे पर विद्यमान दुःसह तेज से भी दर्शकों को शान्ति का पान करा रहे थे । दुःसह तेज से अग्नि को बुझा रहे थे, यह अर्थ भी ध्वनित होकर विरोधालङ्कार का सौन्दर्य दे रहा है । यहाँ कुवलयानन्द की दृष्टि से विरूपकार्योत्पत्तिरूप विषमालंकार है । ऐसे ज्योति के पुंज ऋषि को मस्तक झुका कर प्रणाम करो ।

इस सम्पूर्ण रचना में ऋषि या गुरु के प्रति रतिभाव वर्णित होने से यह भावध्वनि नामक काव्य है ।

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः



## अथर्ववेद के कुछ प्रयोग और हिन्दी

अथर्ववेद में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जो उन्हीं रूपों में अथवा कुछ विकृत रूपों में हिन्दी में भी मिलते हैं। यहाँ संक्षेप में इसकी चर्चा की जा रही है।

‘राध साध संसिद्धौ’ धातु है। राध अथवा साध का अर्थ है- पूरा करना, सिद्ध करना। अथर्ववेद में राध तथा साध के प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं-

(१) इदमू षु प साधय पुना रूपाणि कल्पय । -अथर्ववेद १/२४/४

(२) त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ।

राधना और साधना हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। सोच शब्द हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है। यह संज्ञा शब्द है तथा पुँल्लिङ्ग है। सोच, सोचहिं अवधी में प्रयुक्त है। अथर्ववेद (२/२०/४) में शोच का प्रयोग क्रिया के रूप में है- “अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच । ‘शुष शोषणे’ धातु का प्रयोग अथर्ववेद (६/१३६/१) में मिलता है- “तया सहस्रपण्या हृदयं शोषयामि ते ।” हिन्दी में ‘सोखना’ शब्द का प्रयोग मिलता है। पार शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है:- ३/११/३, ६/१३३/१, २०/७६/५/ हिन्दी में भी पार जाना, पार लगना आदि प्रयोग मिलते हैं।

अथर्ववेद (४/१५/१२) में गर्गर शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। सायण ने गर्गर का अर्थ किया है-

“अनुकरण शब्दोऽयम् । ईहग्ध्वनियुक्ताः प्रवाहा इति ।”

हिन्दी में ‘गगरा’ शब्द प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ कलश है। यह संस्कृत के गर्गर शब्द से निकला है, जिसका प्रयोग हम अथर्ववेद में देख रहे हैं।

अमरकोश में शूर और वीर शब्द पर्याय माने गये हैं- “शूरो वीरश्च विक्रान्तः” -२/८/७७ । हिन्दी में प्रायः या तो शूर शब्द का प्रयोग होता है या वीर शब्द का । दोनों का एक साथ प्रयोग नहीं मिलता। अथर्ववेद में एक महत्त्वपूर्ण

प्रयोग मिलता है। यहाँ शूर तथा वीर इन दोनों शब्द का एक साथ प्रयोग हुआ है-  
 “वीर्यवावृत्सपत्नहा शूरवीरः परियाणः सुमंगलः ।” -८/५/१

हिन्दी में भी कभी-कभी शूरवीर पद का एक साथ प्रयोग दृष्टिगत होता है। अथर्ववेद के आधार पर यह प्रयोग शुद्ध है। राशि शब्द का महत्त्वपूर्ण प्रयोग अथर्ववेद में उपलब्ध होता है-

“अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।

पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥” -६/१४३/३

भाष्य इस प्रकार है- “हे यव तव उपसदः उपसत्तार उपयन्तारः कर्मकराः अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु भवन्तु राशयः धान्यसमूहाः । पृणन्तः गृहादिकं पूरयन्तः सहात्तारो जना अक्षिताः क्षयरहिताः सन्तु । अत्तारः भोक्तारः।”

‘राशि’ शब्द का प्रयोग आज भी अवधी में इसी अर्थ में होता है। जब खलियान में यव आदि को साफ करके उनकी ढेर लगा देते हैं, तब उसे राशि कहते हैं। उसको ढोकर घर लाते हैं और उसे किसी स्थान पर सुरक्षित कर देते हैं। जिस स्थान पर उसे रखते हैं, उसे कोठार (भंडार) कहते हैं अर्थात् धान्य को रखने के लिए सदगृहस्थ कोठार बनाते हैं। कोठार से कोठारी शब्द बनता है। हम लोगों के गाँवों में वर्षों पहले भूमि में बहुत बड़ा गड्ढा खोद लेते थे और लीपपोत कर उसे सुन्दर बना लेते थे। उसमें धान्य की राशि रख देते थे। फिर उसके ऊपर लकड़ी की पटिया रखकर उस गड्ढे को व्यवस्थित रूप से ढँक देते थे। समय आने पर उसे खोलते थे और अन्न का उपयोग करते थे। उस गड्ढे को गाड़ कहते थे। अथर्ववेद में उपलब्ध राशि शब्द का यह प्रयोग आज भी अवधी में ठीक उसी रूप में सुरक्षित है, जिस रूप में वेद में प्रयुक्त है।

अथर्ववेद में आश्चर्यजनक रूप से ‘लोग’ शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इसका अर्थ है- लोक, समूह। आज भी अवधी में लोग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। ‘आप लोग कहाँ से आ रहे हैं?’ इत्यादि प्रयोग प्रतिदिन सुनायी पड़ते हैं। अथर्ववेद का प्रयोग इस प्रकार है-

उत्ते स्तम्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निद्धन्मो अहं खिम् ।

एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ -१८/३/५२

इस मन्त्र में 'स्थूणा' पद प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी का धूनी शब्द इसी से निकला हुआ है। धूनी का अर्थ है- किसी भार को गिरने से रोकने के लिए नीचे लगाया जाने वाला खम्भा ।

जनि शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है-

(१) अनश्रवो अनभीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे।जनयः -उपत्यजनन्यः ।  
-अथर्ववेद १८/३/५७ (२) परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये।  
जनयः जनयन्ति उत्पादयन्ति अपत्यम् इति जनयो योषितः । -२०/१७/१

अथर्ववेद में 'महामनाः' का विशिष्ट प्रयोग मिलता है-

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम ।

महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥

महामनसाम् - अदीनमनसाम् । - १६/१३/१०

'महामनाः' का प्रयोग अध्यात्म रामायण में भी मिलता है-

प्राह सर्वे कुशालिनो भरतस्तु महामनाः ।

फलमूलकृताहारो जटावल्कलधारकः ॥ - युद्धकाण्ड १४/१८

पण्डित मदनमोहन मालवीय के लिए 'महामना' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'महामनाः' शब्द का प्रयोग उक्त स्थलों से ही लिया गया होगा।

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय

एन. 1/30, ए-9

नगवा, वाराणसी-221005





## उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

(जु०-अक्टू० ६६ अंक से आगे.....)

७- एतरेय उपनिषद- एतरेय उपनिषद में ब्रह्म का आख्यान निमित्तकारण के रूप में उपलब्ध होता है। वह ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् इस कार्य रूप जगत से पूर्व था। ऐसा उसके तुल्य नहीं था जो उसकी स्पर्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था। उसने ही अपनी ईक्षण शक्ति द्वारा सभी लोक लोकान्तरों को उत्पन्न किया।<sup>५८</sup> अन्य उपनिषदों की तरह ब्रह्म को अनेक नामों से एतरेय में कहा गया है। उस ईश्वर का नाम ब्रह्म उसी का नाम इन्द्र, प्रजापति, और प्रज्ञानेत्र आदि नाम हैं। जिससे समस्त पदार्थ सत्ता रूप में व्यक्त होकर लाभ को प्राप्त करते हैं उसका नाम नेत्र है।<sup>५९</sup> अर्थात् जिसके ज्ञान रूपी नेत्र हों उसका नाम प्रज्ञा नेत्र है।<sup>६०</sup> प्रत्ययवादी इसका अभिप्रायः यह लेते हैं यह जड़ चेतन जगत् शुक्ति रजत के समान प्रज्ञानरूप ब्रह्म में कल्पित होने के कारण इस संसार वर्ग को प्रज्ञान में प्रतिष्ठित कहा गया है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो, आरोप रूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम प्रज्ञानेत्र है।<sup>६१</sup> और चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलय काल में स्थिति पाने के कारण इसे प्रज्ञा प्रतिष्ठा कहा गया है।<sup>६२</sup> इस प्रकार संसार का एकमात्र कारण वे ब्रह्म को ही मानते हैं। ये अन्त में जो “प्रज्ञान” ब्रह्म कहा है इससे यह जीव ब्रह्म बन जाता है। परन्तु यह उनका कथन उचित नहीं है क्योंकि अगले मंत्र में ही जीव की उत्क्रान्ति का विवेचन करके उसको सुख रूप मुक्ति की प्राप्त करने का उल्लेख किया है। यदि उक्त अभिप्राय होता तो, जीव के लिए मुक्ति का वर्णन न किया होता। जब प्रज्ञानेत्रो लोकः कहकर अखिल ब्रह्माण्ड के साथ बाधसमानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन किया गया है तो जीव भी तो उसी में आ गया। दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रथम मंत्र में प्रज्ञानपद ईश्वर वाच्य है तो यहाँ ब्रह्म के प्रकरण में प्रज्ञान का अर्थ जीव क्यों ग्रहण किया जाय। प्रकृष्ट ज्ञान का स्रोत ब्रह्म ही है। इसीलिए ब्रह्म के लिए ही प्रज्ञान पद का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रज्ञान पद का विशेषण न देकर कहा जाता तो ब्रह्म का अर्थ प्रकृति, जीव और वेद भी तो हैं। इसीलिए इनसे पृथक् करने के लिये ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा है।

८- तैत्तिरीय- तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप सत्य, ज्ञान अनन्त रूप में कहा गया है। वह परमात्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त धर्मों वाला है। इस वाक्य में ब्रह्म विशेष्य और सत्यादि: उसके विशेषण हैं। यदि ब्रह्म सत्य कहा जाता तो प्रकृति में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि जीव भी ज्ञानस्वरूप है इसकी व्यावृत्ति के लिये अनन्त ब्रह्म अनन्त है। जीव के समान परिच्छिन्न नहीं हैं। इन तीनों पदों के मिलाने से ब्रह्म का लक्षण हुआ। ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। इससे वह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषण वाला (गुणी) है। परन्तु अद्वैतवादी विद्वानों के मत में यह लक्षण नहीं बन सकता है कि लक्षण व्यावर्तक भी होता है क्योंकि इनके यहाँ ब्रह्म भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर किसका लक्षण किया जाय। अद्वैतवादी इसका यह अर्थ भी करते हैं, कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है परन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही प्रतीत होती है। क्योंकि उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा है कि वह “सर्वान् कामान्” सब कामनाओं का उपभोग ब्रह्म के साथ करता। यदि ब्रह्म ही हो जाता तो फिर कामनाओं का प्रश्न ही न पैदा होता। वस्तुतः इसका अभिप्राय: यह है कि परम ब्रह्म को जानने वाला जीवात्मा भी ब्रह्म अर्थात् महान् ब्रह्म ही है।<sup>५३</sup> आचार्य शंकर का मत इसी अध्याय में पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।<sup>५४</sup>

९- श्वेताश्वेतर- इस उपनिषद् में प्रश्नोत्तर रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। वह कारण रूप ब्रह्म क्या है? प्रकृति और जीवात्मा क्या है? यह ब्रह्म ही अपेक्षित है। वह ब्रह्म नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है जो सांख्य और योग द्वारा जाना जाता वही सृष्टि को व्याकृत करने में कारण है। उसे जान कर ही मुक्ति मिल सकती।<sup>५५</sup> इतना ही नहीं अपितु इससे पूर्व कहा है कि एकदेब्र समस्त भूतों में व्याप्त है,<sup>५६</sup> वह सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से विरल है। वह हमारे कर्मों का साक्षी है और निर्गुण है। वह अणु से सूक्ष्म और महान् से महान् है<sup>५७</sup>। समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब का ज्ञाता है। वह ब्रह्म हाथ, पाँव रहित होकर भी वेगवान होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जानता है किन्तु उसे साधारणतः कोई नहीं जानता है। वह प्रभु महान् है।<sup>५८</sup> आगे इसी को प्रकारान्तर से कहा है कि उस ब्रह्म के सब और हाथ पाँव हैं सब और आँखें, सिर, और मुख हैं, वह सर्वत्र सुनने वाला है।<sup>५९</sup> अभिप्राय: यह है कि ऐसा स्थान नहीं जहाँ पर वह देखता सुनता, न हो, वेद कहता है कि अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमें कोई भी नहीं देखता है परन्तु वरुण तृतीय उन्हें देख रहा है।<sup>६०</sup> वास्तव में वह पुरुष ही भूत, भविष्य और वर्तमान में सबका स्वामी है। वही अमृत है। इन मंत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्विशेष रूप में मानकर

प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप में कहा है कि वह ब्रह्म ज्ञानातीत है। और प्रकाश स्वरूप है।<sup>६१</sup> यह प्रकाश स्वरूप होने से सविशेष है। यदि निविशेष रूप कहा होता तो प्रकाश और तप दोनों से रहित कहना चाहिए। इससे आगे कथन किया है कि उस ब्रह्म से उत्कृष्ट वस्तु कोई भी नहीं है और सबसे सूक्ष्म होने के कारण उससे छोटी वस्तु भी कोई नहीं है। न ही उससे कोई महत्तर है।<sup>६२</sup> वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म से व्याप्त है। ईशोपनिषद् में भी कहा है कि जगती में जो जगत् है वह ईश्वर से व्याप्त है।<sup>६३</sup>

इसी प्रकार आगे कहा है कि वह ब्रह्म एक होकर भी अपनी शक्ति से नानाविध संसार का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् रचता है।<sup>६४</sup> उस ब्रह्म के अनेक नाम हैं इसका विवेचन इस प्रकार किया है कि अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा और शुक्रादि नाम उसी ब्रह्म के हैं।<sup>६५</sup> इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों अनेक देवतावाद या बहुदेवतावाद को नहीं मानती हैं। परमात्मा की अनन्त शक्ति है, उसी ब्रह्म के द्योतक अनेक शब्द हो सकते हैं। महर्षि दयानन्द जी का भी यही मत है।<sup>६६</sup> ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी इसी आशय के मंत्र अनेकों उपलब्ध होते हैं इन्हीं भावों को यजुर्वेद में कहा है।<sup>६७</sup> ऋग्वेद में कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और मातरिश्वान उसी एक ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं। विद्वान लोग उसे बहुत नामों से कहते हैं कि जबकि वह एक ही है।<sup>६८</sup> यह सर्वव्यापी ने समस्त लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों<sup>६९</sup> को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशान्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म का अर्थ ज्ञात हुआ जिस प्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिड़े हुए होते हैं या जिस प्रकार रथ के पहिये आरों से लगे होते हैं इसी प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण वाणियाँ प्राप्त हैं अथवा वह ओंकार ही सम्पूर्ण में व्याप्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है।<sup>७०</sup> उसकी व्यापकता के साथ सूक्ष्मता का विवेचन बड़े विशद रूप में छान्दोग्य में उपलब्ध है। जैसा कि उदाहरणों से समझाया है कि ब्रह्म, जिससे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, और लय होता है उन पदार्थों को ब्रह्मस्थ समझें क्योंकि ब्रह्म को जगत् से तीनों कालों में भिन्न माना है। यह उनके अनुसार मुख्य समानाधिकरण है अर्थात् समस्त पदार्थ अपने-अपने आकार से ब्रह्म रूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। यहाँ यह विवेचनीय है कि क्या इन पदार्थों को ब्रह्म माना जाय या इन पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक माना जाय। यदि पहली बात मानी जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पत्ति स्थिति, लय वस्तुओं का होने के कारण ब्रह्म विकृत नहीं हो जायेगा! विवर्त कहने से दोष दूर नहीं हो सकता क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म है। इसीलिए ये वस्तुएँ ब्रह्म नहीं हो सकतीं। क्योंकि आगे ही प्रतिपादन है कि उक्त गुणों वाला ईश्वर मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म धानों से और यवों

से और सरसों से चावलों से भी अति सूक्ष्म है । यह ब्रह्म मेरे हृदय के मध्य में पृथ्वी से अन्तरिक्ष द्यौलौक से अर्थात् लोको से महान् है । यहाँ सूक्ष्म- से-सूक्ष्म, महान-से-महान रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है ।<sup>७१</sup> शाण्डिल्य ऋषि ने ब्रह्म के स्वरूप का विश्वकर्मा रूप में वर्णन किया है । सर्वकर्मा वाला, सब कामनाओं वाला, सब गन्धों वाला । सब जगत् उस ब्रह्म से व्याप्त है । वाणीरहित पक्षपात शून्य मेरे हृदय देव जगत्कर्ता और सर्वथा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है । उस परम ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा बुद्धि से जानकर मनीषि लोग अमर हो जाते हैं । इस ब्रह्माण्ड में देव अपनी शक्ति से अनेक प्रकार से उत्पन्न विकृत कर अन्त में संहार करता है । तथा यह महात्मा ईश्वर ही (कल्पान्तर के आरंभ) प्रजापतियों को पुनः उत्पन्न कर सबका आधिपत्य करता है ।<sup>७२</sup> उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि जगत् का निमित्तकारणभूत जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को स्थिर करता है । अकेला ही समस्त संसार का नियमन करता है और जो समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है वह परम ब्रह्म है ।<sup>७३</sup> ब्रह्म की यथार्थ रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है जैसा कि कहा है कि इस गहन संसार के भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्व के रचयिता, अनेक रूप, विश्व को एक मात्र व्याप्त करने वाले देव को जानकर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है ।<sup>७४</sup> इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण निमित्तकारण रूप में ही हुआ है । आचार्य शंकर का इस पर जो भाष्य उपलब्ध होता है उसे प्रायः अद्वैतवादी विद्वान् स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका कहना है कि यह उनकी भाषा प्रतीत नहीं होती है । परन्तु उनका ऐसा कहना संभवतः इसीलिए है कि इस उपनिषद् में पूर्णरूपेण यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन मिलता है ।

१०- छान्दोग्य- इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ओ३म् शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि ओ३म् उसका मुख्य नाम है जो अक्षर (अविनाशी) इसी का उद्गीथ अर्थात् वाणी का आधार मानकर उपासना करे ।<sup>७५</sup> उसकी सर्वव्यापकता के लिए कहा है कि ब्रह्म के अन्दर है । यही वह ब्रह्म है । ऐसे गुणों वाले या स्वरूप वाले ब्रह्म को प्राप्त होऊँ, यही मेरी प्रार्थना है<sup>७६</sup> । उक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि ब्रह्म हमारा स्वामी है, पिता है । जीवात्मा उसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, के सम्बन्ध से प्राप्त करना चाहता है । परमात्मा के कोशों का वर्णन भली प्रकार करते हुए प्रतिपादन किया है कि उसका कौश कैसा है । आकाश जिसका उदर समान है, पृथ्वी पाद समान है, दिशायें जिसके कोणें हैं, द्यौलौक जिसका खुला मुख है । इत्यादि ऐसा जो परमात्मा रूप कौश है कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् सदा एक रस रहता है । विश्व का धन उसके कोश के आश्रित हैं ।<sup>७७</sup> छान्दोग्य उपनिषद् की तरह वेदों में भी ब्रह्म का विराट् रूप में

वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के इक्कासी और बयासीवें सूक्त से ब्रह्म का विश्वकर्मा के रूप में वर्णन हुआ है। क्योंकि वह विश्व का बनाने वाला है।<sup>१०</sup> छान्दोग्य में ईश्वर का वर्णन भूमा के रूप में भी हुआ है। भूमा नीचे, ऊपर, पीछे, पूर्व में, वही दक्षिण, वही उत्तर में स्थित है। अर्थात् वही इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है।<sup>११</sup> उस उपनिषद् में ब्रह्म का नाना रूप में व्याख्यान हुआ है। उसके सत्य नाम की व्याख्या देखने योग्य है। ब्रह्म के सत्य नाम में स, त, य यह तीन अक्षर हैं इन अक्षरों में जो साकार है वह अमृत है। और जो तकार है, वह मर्त्य है। तथा जो यकार है वह उक्त दोनों को नियमन में रखता है। इसी कारण य् कहलाता है वास्तव में जो ऐसा जानने वाला है, वह प्रतिदिन महान् सुख को प्राप्त होता है। इस उक्त स, त, य का अभिप्राय यह हुआ कि किसका अर्थ अमृत जीवात्मा है। त का अर्थ मर्त्य अर्थात् प्रकृति है। य का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने आधीन रखता है। उसका नाम सत्य है। प्रकृति में परिवर्तन होने से वह मर्त्य है। वह य रूपब्रह्म दोनों का उपयोग कर संसार का निर्माण करता है।<sup>१२</sup> इससे आगे ब्रह्म का वर्णन सेतुरूप में हुआ है। वह ब्रह्म जो सदा विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषण युक्त है वही संसार का सेतु है। अर्थात् जैसे हम सेतु पर बिना चढ़े नदी को पार नहीं कर सकते।<sup>१३</sup> इसी प्रकार ब्रह्म का आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी सेतुरूप को कठ में, श्रेष्ठ आलम्बन नाम से कहा है। यदि यह सेतु संसार को धारण न करे तो संसार तत्काल नष्ट हो जाय अतः यह अमृतमय सेतु ही इसकी रक्षा कर रहा है। मुण्डक में भी इसको अमृत का सेतु कहा है।<sup>१४</sup> छान्दोग्य का ब्रह्म भी दूसरी उपनिषदों के समान है इसी भाव को यजुर्वेद में भी प्रदर्शित किया है।<sup>१५</sup> वास्तव में उपनिषद् के मंत्र केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है अपितु समाधि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर जो अनुभूति या साक्षात्कार ऋषियों को हुआ वही उपनिषदों में प्रतिपादित है। अनुभव सदा समान ही हुआ करता है क्योंकि ब्रह्म एक ही है तो उसका साक्षात् भी समानरूप में ही होगा।

क्रमशः.....

— प्रो० जयदेव वेदालंकार

डीन- प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।



# कैवल्य

भारतीय दर्शनों में निवृत्ति और आनन्दावाप्ति को कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, आर्हतीदशा, अपवर्ग, निःश्रेयस, प्रपञ्चसम्बन्ध विलय, ब्रह्मपदावाप्ति आदि अनेक शब्दों से अभिहित किया है। वस्तुतः जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों के फलस्वरूप इस संसार में सुख-दुःखादि का भोग करते हुए आत्मा को कष्ट की अनुभूति होती है। इसी कष्ट से मुक्ति प्राप्त करना उसका उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को विभिन्न शास्त्रकारों ने अपने-अपने ढंग से निरूपित किया है। यही उद्देश्य ही मोक्ष, मुक्ति या कैवल्य के रूप में विवेचित किया गया है।

अन्य दार्शनिकों के मतों का उल्लेख करके योग-प्रतिपादित कैवल्य की चर्चा करना समीचीन होगा।

## चार्वाक मत-

नास्तिक दर्शनों में चार्वाक का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इन्होंने मोक्ष की सत्ता और उपयोगिता स्वीकार की है। इनकी मान्यता है कि देह ही आत्मा है। अतः देह का विनाश ही मोक्ष है<sup>१</sup>। यह मोक्ष शाश्वत है क्योंकि पुनर्जन्म नहीं होता<sup>२</sup>।

## बौद्ध मत-

बौद्ध दार्शनिक त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक छुटकारा ही निर्वाण मानते हैं, यह निर्वाण निषेधात्मक है, विध्यात्मक नहीं। जैसे दीपक का निर्वाण निषेधात्मक होता है। विशेषतः शून्यवादी बौद्धों की यही मान्यता है<sup>३</sup>। निर्वाण को प्रहाण, प्राप्ति, उच्छेद, निषेध और उत्पत्ति से रहित माना गया है<sup>४</sup>। क्योंकि यह अभावरूप है और सभी कुछ क्षणिक है<sup>५</sup>।

## जैन मत-

जैन दार्शनिक मान्यतानुसार कर्मफल में आसक्त होना बन्धन व समस्त कर्मों से छूट जाना मोक्ष है। इस अवस्था को इन्होंने आर्हती अवस्था या अर्हन् पद की प्राप्ति माना है। मिथ्यादर्शनादि बंध के कारण हैं। संवर से नए कर्मों का आस्रव रुक जाता है और निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म हो जाता है। इस प्रकार कर्मबन्धन से छूटकर मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है<sup>६</sup>।

## न्याय मत-

न्याय दर्शन मोक्ष को अपवर्ग कहता है। यह अपवर्ग दुःखों का अत्यन्ताभाव रूप है<sup>५</sup>। दुःखों का प्रधानकारण है- यह जन्म। सक्राम कर्मों में प्रवृत्ति ही जन्म का कारण है। प्रवृत्ति दोषवशात् होती है। दोषों का कारण है अविद्या या मिथ्याज्ञान<sup>६</sup>। प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होकर अपवर्ग का अविराम होता है<sup>६</sup>।

## वैशेषिक मत-

न्यायदर्शन की भाँति विशेषिक में भी अपवर्ग को परम पुरुषार्थ कहा गया है तथा उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'निःश्रेयस' दी गई है<sup>७</sup>। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर शांत हो जाती है, कुछ भी शेष नहीं रहता। इसी प्रकार दुःखों का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष में सुख नहीं होता<sup>७</sup>।

## सांख्य मत-

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन है, जिसे संसार कहा जाता है। तत्त्वज्ञान से इन दोनों का वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है<sup>८</sup>। प्रकृति व पुरुष का सम्बन्ध अंधे व लंगड़े के सम्बन्ध के समान है। इस मान्यता के अनुसार बंधन व मोक्ष प्रकृति का ही होता है, पुरुष में तो उसका उपचार ही होता है<sup>९</sup>। महत् तत्त्व के आठ धर्म हैं- धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य तथा ऐश्वर्यानैश्वर्य। ज्ञान के अतिरिक्त सातों द्वारा प्रकृति पुरुष को बांधती है<sup>९</sup>।

## योग मत-

पातंजल योग दर्शन के अनुसार मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा कैवल्य है। वस्तु के स्वरूप को केवल कहते हैं। केवल का भाव कैवल्य है। मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है<sup>१०</sup>। जब बुद्धि (प्रकृति) और पुरुष में एक जैसी शुद्धता हो जाती है, तब कैवल्य होता है<sup>१०</sup>। यह शुद्धि-साम्य विवेक ज्ञान से प्राप्त होता है। क्योंकि अविद्या का नाश होने से क्लेश-नाश और क्लेश-नाश से संस्कार नहीं बनने के कारण जन्मादि नहीं होता। यही पुरुष का कैवल्य है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के दो ही प्रयोजन हैं- पुरुष के लिए भोग व मोक्ष देना। जब प्रयोजन पूर्ण हो जाता है तो पुनः प्रतिप्रसव नहीं होता। पुरुष निज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है<sup>१०</sup>। तत्त्वज्ञान चित्तवृत्ति निरोध रूप योग से होता है। यह योग अभ्यास और वैराग्य रूप है<sup>१०</sup>। क्रियायोग, अष्टांगयोग और ईश्वर प्रणिधान रूप भक्तियोग भी कैवल्य प्राप्ति के अन्य साधन हैं<sup>१०</sup>।

## मीमांसा मत-

मीमांसा मत में जीवात्मा के साथ जगत्प्रेम के सम्बन्ध के विलय को मोक्ष कहा जाता

है। मीमांसक जीव और जगत् दोनों को नित्य मानते हैं। जगत् का प्रलय यहाँ अमान्य है। अतः जगत् का विलय तो हो नहीं सकता है। केवल प्रपञ्च के साथ जीव के सम्बन्ध का लय होता है<sup>२०</sup>। प्रपञ्च तीन प्रकार का होता है- शरीर, इन्द्रियाँ और विषय। शरीर भोगायतन, इन्द्रियाँ भोगसाधन और विषय भोग्य है। सुख-दुःख रूप जो अपरोक्षानुभूति है, वह भोग है, जिसका कर्ता पुरुष है। इस त्रिविध प्रपञ्च रूप बन्धन का सदा के लिए अवरुद्ध हो जाना मोक्ष है<sup>२१</sup>। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से प्रपञ्चविलय होता है।

### शांकर मत-

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती अपितु बन्धन के भ्रम का निवारण हो जाता है। जीव ब्रह्मस्वरूप व नित्यमुक्त है। जीव को माया के कारण यह भ्रम हो गया है कि वह बद्ध है। जैसे कण्ठ में पड़े विस्मृत हार की प्राप्ति नहीं होती अपितु ज्ञान मात्र होता है। प्राप्त तो वह पहले ही है। यह ज्ञान किसी पृथक् उपदेष्टा द्वारा होता है। इसी को दशम न्याय कहा गया है। इस मुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है, कर्मानुष्ठान की नहीं। यह ज्ञान गुरु के द्वारा बहुशः उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों द्वारा होता है। श्रवण, मनन व निदिध्यासन उस ज्ञान के सहकारीकारण हैं<sup>२२</sup>।

### आचार्य रामानुज का मत-

रामानुजाचार्य के मत में भगवान श्रीहरि के दासत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्षावस्था में जीवात्मा भगवान का किंकर बनकर वैकुण्ठ में भगवान के चरणों में निवास करता है<sup>२३</sup>। वह ब्रह्म के साथ मिलकर अभिन्न नहीं हो जाता। वह सदा ब्रह्म से पृथक् ही रहता है। मोक्ष दशा में विशेष आनन्द मोक्ष का फल है। जीव स्वरूप से नित्य है। ध्रुवानुस्मृति रूप भक्ति ही मोक्ष का साधन है<sup>२४</sup>।

### आचार्य मध्व का मत-

माध्यमत में भी ब्रह्म की प्रसन्नता से वैकुण्ठ की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाती है। गुणों के संकीर्तन से भगवान प्रसन्न होते हैं। इनके मत में निर्गुणमुक्ति कभी नहीं होती। मुक्त पुरुषों का आश्रय केवल विष्णु हैं<sup>२५</sup>। मोक्ष के चार प्रकार मान्य हैं- सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य व सायुज्य ।

### आचार्य निम्बार्क का मत-

इनके मत में मुक्ति का अर्थ ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति है। भक्ति का अर्थ है- शरणागति या परा-प्रपत्ति। परा-प्रपत्ति में भगवान की अनुकूलता का संकल्प लेना, प्रतिकूलता का वर्जन करना, 'भगवान ही रक्षा करेंगे' ऐसा विश्वास करना तथा



ईश्वर के रक्षकत्व रूप महिमा का वर्णन किया जाता है<sup>२६</sup>। भगवान् भक्त के कार्णव्य भाव से प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न हुए भगवान् भक्त को स्वकीय धाम प्रदान करते हैं।

### आचार्य वल्लभ का मत-

आचार्य वल्लभ के अनुसार भगवत्स्वरूपापत्ति को जीव की मुक्ति कहा जाता है। आनन्द स्वरूप भगवान् श्रीहरि स्वयं प्रकट होकर अपने स्वरूप बल से भक्त को अपना स्वरूप प्रदान करते हैं। उस अवस्था में जीव ईश्वर में अपने अन्यथाभाव को छोड़कर स्वरूप में स्थित हो जाता है<sup>२७</sup>। इनके मत में मुक्ति का साधन पुष्टिमार्ग है। भगवान् के अनुग्रह का पारिभाषिक नाम पुष्टि है। केवल भगवदनुग्रह से ही लौकिकी और वैदिकी सिद्धि सम्भव है, ज्ञान अथवा किसी अन्य कर्मानुष्ठान से नहीं<sup>२८</sup>।

### स्वामी दयानन्द का मत-

स्वामी दयानन्द दुःखों से मुक्त होने को मुक्ति कहते हैं- 'मुञ्चन्ति प्रथम्भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः'<sup>२९</sup>। मुक्ति की यही सीधी-सादी परिभाषा है। यह जीवनकाल में भी हो सकती है और शरीरान्त के पश्चात् भी। जैसे लोक में व्यक्ति औषधि आदि के सेवन से कुछ काल तक रोगों से दूर रह सकता है, वैसे ही उपासना, सत्कर्म आदि के अनुष्ठान से जन्म-मरण के चक्र का कुछ काल तक निरुद्ध हो जाना मोक्ष है। उनके विचार से मुक्ति कुछ काल पर्यन्त होती है, आत्यन्तिक नहीं। आत्यन्तिक का वे अत्यधिक अर्थ करते हैं<sup>३०</sup>। उनका कथन है कि अल्पज्ञ और अल्प शक्तियुक्त जीवात्मा का इतना सामर्थ्य नहीं कि वह त्रिविध दुःखों से शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर सके ।

उनके अनुसार, "परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म, अविद्या, कुसंग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्य भाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित न्याय, धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने और जो कुछ करें, वह सब पक्षपातरहित न्याय धर्मानुसार ही करें। इत्यादि साधनों से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भंग करने आदि काम से बंध होता है<sup>३१</sup>। इनके अतिरिक्त वे साधन-चतुष्टय, श्रवण-चतुष्टय, मैत्री करुणा मुदिताउपेक्षा आदि भावना को मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं<sup>३२</sup>।

### औपनिषदिक मत-

प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपने मत की पुष्टि में उपनिषद् को प्रमाण माना है और उपनिषदों की व्याख्या अपने दृष्टिकोण से कर ली है। उपनिषदों के पर्यवेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों का चरम लक्ष्य आत्मा की अपरोक्षानुभूति कराकर स्वराज्य की

प्राप्ति कराना है। उपनिषदों की स्पष्ट घोषणा है कि मानव जीवनयापन के दो मार्ग हैं- श्रेय व प्रेय<sup>३३</sup>। प्रेयमार्ग आपातरमणीय हैं। सांसारिक सुख की इच्छा वाले व्यक्ति इस मार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यह अन्तिम मंगलसाधन नहीं है। तभी तो नचिकेता यमराज द्वारा शतायुषु पुत्र-पौत्रादि, पशु, हार्थी, घोड़े, धन आदि भोग सामग्री का त्याग कर देता है<sup>३४</sup>। तभी वह कहता है कि मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता। तेरे रहस्य को समझने के बाद सब कुछ प्राप्त हो जाता है<sup>३५</sup>। जीर्णन होने वाली अमृत अवस्था को प्राप्त करके कौन जीर्ण होने वाली मरणावस्था को प्राप्त करना चाहेगा<sup>३६</sup>। यही भाव मैत्रेयी ने प्रकट किया है कि यदि वित्तादि से मैं अमर नहीं हो सकती तो लेकर क्या करूँगी? मुझे अमरता का उपदेश दो<sup>३७</sup>। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सब कुछ जिस आत्मा के लिए प्रिय होता है, वह आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है<sup>३८</sup>। अतः स्पष्ट है कि श्रेयमार्ग ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई नहीं<sup>३९</sup>।

उपनिषदें मोक्ष को स्वोपलब्धि कहते हैं। इसका अर्थ है- आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मभिक्षेन और आत्मानन्द<sup>४०</sup>। कठोपनिषद् में परमगति की अवस्था में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि निर्व्यापार हो जाते हैं<sup>४१</sup>। मोक्षकेवल दुःख का अभावरूप नहीं अपितु आनन्दरूप भी है<sup>४२</sup>। केवल ब्रह्मलोक में वास मोक्ष नहीं अपितु अभौतिक शरीर से आनन्दोपभोग करना मोक्ष है।

उपनिषदों में ज्ञान, कर्म, उपासना और योग साधना को मोक्ष के उपाय रूप में स्वीकार किया है। ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का साथ-साथ अनुष्ठान ही करणीय है, केवल एक पर्याप्त नहीं। योगसाधना से साधक को जन्म, मृत्यु व जरा नहीं सताते<sup>४३</sup>। क्योंकि संस्कार दग्धबीज अवस्था को प्राप्त होने के कारण जन्मादि के बन्धन से छूटकर साधक मोक्ष का आनन्द प्राप्त करता है। नचिकेता को यमाचार्य ने इसी विधि का उपदेश दिया था<sup>४४</sup>।

### उपसंहार-

समस्त भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष सम्बन्धी जो मत दिए हैं, अधिकांशतः वे सभी मूल रूप से उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। अतः ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग- इन सभी उपायों का आश्रय लेकर स्वयं को पवित्रान्तःकरण करके भूमा और विशाल होकर परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानकर उस अप्रतिम मोक्ष रूप की प्राप्ति करना ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। परम पुरुषार्थ मोक्ष ही कल्याणकारी है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय ।

- डॉ० ईश्वर भारद्वाज  
अध्यक्ष, योग विभाग,  
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



## सन्दर्भ संकेत

- १- देहच्छेदो मोक्षः। -सर्वदर्शन संग्रह- पृ०१
- २- यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?  
- सर्वदर्शन संग्रह- पृ० २४
- ३- सत्काम दृष्टि प्रभवानशेषान्  
क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन् ।  
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा  
योगी करोत्यात्म निषेधमेव ॥  
- माध्यमिका वृत्ति
- ४- अप्रहाणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।  
अनिरुद्धमनुत्पन्नं एतान्निर्वाणमुच्यते ॥  
- माध्यमिका वृत्ति
- ५- यत्सत्तत्क्षणिकम् - सर्वदर्शन संग्रह- पृ० ३८
- ६- मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध हेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जरा हेतु सन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो  
निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः । तदाह-बन्ध हेत्वभावादिर्ज्ञाराभ्यां कृत्सनकर्म विप्रमोक्षणं मोक्षः ।  
- तत्त्वार्थसूत्र १०/२
- ७- (क) सा आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः । -सर्वदर्शन संग्रह- पृ० १६७  
(ख) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । -न्यायसूत्र- १/१/२२
- ८- दुःखजन्मप्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।  
-न्यायसूत्र १/१/२
- ९- प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन दृष्टान्तसिद्धान्तावयव तर्कनिर्णय वाद जल्पवितण्डा हेत्वाभास छलजाति  
निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः । - न्यायसूत्र १/१/१
- १०- दुःखत्यन्तोच्छेदापरपर्याय निःश्रेयसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात् । -सर्वदर्शन संग्रह- पृ० ४४७
- ११- दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः । -न्यायसूत्र
- १२- पुं प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्यभिधीयते -सांख्यसूत्र
- १३- तस्मान्नबध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।  
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रयाः प्रकृति ॥  
- सांख्यकारिका, ६२
- १४- रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।  
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ॥  
- सांख्यकारिका, ६३

- १५- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । -योगसूत्र १/३
- १६- सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति । -योगसूत्र ३/५५
- १७- पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।  
-योगसूत्र ४/३४
- १८- अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । -योगसूत्र १/१२
- १९- (क) तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । - योगसूत्र २/१  
(ख) यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधियोऽष्टावंगानि । -योगसूत्र २/२६  
(ग) समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् । -योगसूत्र २/४५  
ईश्वरप्रणिधानाद्वा । -योगसूत्र -१/२३
- २०- प्रपञ्चसम्बन्ध विलयो मोक्षः । -मीमांसा दर्शन (शास्त्रदीपिका) पृ० ३५८
- २१- त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति-भोगायतनं शरीरम्,  
भोगसाधनानि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः ।  
भोग इति च सुखदुःख विषयोऽपरोक्षानुभूति उच्यते ।  
तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धनस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः ।  
- मीमांसा (शास्त्रदीपिका) पृ० ३५८
- २२- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । -बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/५/६
- २३- श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः ।  
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यःयुमान् ॥  
-लोकाचार्य
- २४- न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।  
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं, त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥  
-आलवन्दार स्तोत्र
- २५- मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा ।  
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदेव स ईश्वरः ॥  
-सर्वदर्शन संग्रह पृ० २७६
- २६- आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।  
रक्षिष्यतीति विश्वासाः तथा गोप्तृत्व वर्णनम् ॥  
- वेदान्तरत्न मञ्जूषा
- २७- मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः । - श्रीमद्भागवत्पुराणम्
- २८- अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।  
न यत्नादन्यथा विद्मः पुष्टिमार्गः स उच्यते ॥  
- प्रमेयरत्नार्णव (हरिराज)
- पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य प्रमाणमार्गात् विलक्षणः । -अणुभाष्य ४/४/६

- २९- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६१
- ३०- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६४
- ३१- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६४
- ३२- सत्यार्थप्रकाश - नवम समुल्लास, पृ० १६५-६६
- ३३- श्रेयश्चं प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।  
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमान्दृणीते ॥  
-कठोपनिषद्, १/२/२
- ३४- शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । -कठोपनिषद्, १/१/२३
- ३५- न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्भ्राह्म चेत्वा ।  
जीविष्यामो यावदाशिष्यति त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥  
-कठोपनिषद् १/१/२७
- ३६- अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।  
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत् ॥  
-कठोपनिषद् १/१/२८
- ३७- सा होवाच मैत्रेयीयेनाहं नामृता स्यां किमहं तेन ।  
कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे बहीति ॥  
- बृहदा० २/४/३
- ३८- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । -बृहदा० २/४/५
- ३९- तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यःपन्थाः विद्यतेऽयनाय । -श्वेताश्वतरो० ३/८
- ४०- इदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म क्रीडआत्ममिथुन आत्मानन्दः  
स स्वराङ् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।  
-छान्दो० ७/२५/२
- ४१- यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।  
बुद्धिश्च न निचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥  
-कठोपनिषद् २/३/१०
- ४२- अत्र ब्रह्म समश्नुते । -कठोपनिषद् २/३/१४  
आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विमेति कुतश्चन । -तैत्तिरीयो० (व० वल्ली), ६
- ४३- न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् । -श्वे० २/१२
- ४४- मृत्यु प्रोक्तां निचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् । कठो० २/३/१८



## द्विकर्मक धातुओं में अभिधान की व्यवस्था तथा वेदों में द्विकर्मक धातु

किसी भी शब्दानुशासन या व्याकरण की परिपूर्णता के लिए उसका पाँच अवयवों से युक्त होना आवश्यक माना जाता है। व्याकरण के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त पञ्चाङ्ग या 'पञ्चग्रंथी' शब्दों का प्रयोग इस विषय में तात्पर्यग्राहक है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से आचार्य पाणिनि अपने क्षेत्र में सर्वातिशायी वैयाकरण रहे हैं। ये पाँच अङ्ग इस प्रकार हैं - सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिङ्गानुशासन ।

यद्यपि उक्त पाँचों पाठों में प्रथमोपात्त सूत्रपाठ ही वरीयान् होता है। शेष तो उसके सहायक रूपमें ही उपस्थित होते हैं। अतः वे 'खिलपाठ' के नाम से जाने जाते हैं। तथापि उनका प्रातिस्विक महत्त्व है। व्याकरण को सातिशय लाघव प्रदान करने में इनकी अपनी अनुपेक्षणीय भूमिका है। व्याकरण के सैंकड़ों सूत्र इन खिलपाठों से युक्त होकर ही अपनी अर्थवत्ता रखते हैं, अन्यथा नहीं। अतः इस दृष्टि से ये भी सूत्रपाठ के समान ही समादर्तव्य हैं ।

सम्भवतः प्राचीनकाल में ये 'खिलपाठ' सूत्रपाठ के साथ ही यथास्थान व्यवस्थित थे। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है कि व्याकरण को भाषा या वैदिक साहित्य को सीखने का लघुभूत उपाय बनाने के लिए बाद में इन्हें सूत्रपाठ से पृथक् कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में ये व्याकरण जगत् में उपेक्षित प्राय हो गए। यद्यपि भोजराज ने इन्हें पुनः एक बार सूत्रपाठ में सम्मिलित करके इनको प्राचीन गौरव प्रदान करने का यथासम्भव भगीरथ प्रयास किया किन्तु उनके व्याकरण सरस्वतीकण्ठाभरण के व्यापक प्रचार न पा सकने के कारण यह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो पाया ।

अस्तु, इन 'खिलपाठों' में भी "सर्वाणि नामान्याख्यातजानि"<sup>३</sup> इस सिद्धान्त के मूल धातुपाठ का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य पाणिनी ने अपनी तरफ से इसे पूर्णतया वैज्ञानिक बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। फलतः उन्होंने नाना अनुबन्ध संवलित करके इनसे अनेक इष्टों का साधन किया। इन अनुबन्धों के आधार पर ही कुछ धातु आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी तथा कुछ उभयपदी हो जाती हैं। इसी प्रकार इन अनुबन्धों के कारण ही कुछ

धातु नेट् (अनिट्), कुछ सेट् तथा कुछ वेट् हो जाती हैं। इसी सन्दर्भ में आचार्य पाणिनि ने कुछ धातुओं को अकर्मक, कुछ को सकर्मक तथा कुछ को द्विकर्मक भी स्वीकार किया है। इस विषय में ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि किस प्रकार सकर्मक धातु अकर्मक बन जाती है। इस सन्दर्भ में निम्न कारिका द्रष्टव्य है-

“धातोरथान्तरे वृत्तेधात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।

प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥<sup>३</sup>

अर्थात् सकर्मक धातु भी अकर्मक बन जाता है यदि धातु अर्थान्तर में प्रवृत्त हो जाए, जैसे- ‘वहति भारम् (सकर्मक) तथा नदी वहति स्यन्दत इत्यथः अकर्मक या कर्म धात्वर्थ में ही अन्तर्भूत हो जाए, जैसे- ‘जीवति नृत्यति’ या कर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हो, जैसे- मेधो वर्षति अथवा फिर कर्म की विवक्षा ही न की जाए, जैसे- ‘हितान्नं संश्रृणुते स किम्प्रभुः’ (किरात १.५)

जहाँ तक द्विकर्मक धातुओं का प्रश्न है, उनका परिगणन करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं -

“दुहि याचि रुधि प्रच्छिभिक्षिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।

ब्रुवि शासि गुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना”॥<sup>४</sup>

अर्थात् दुह्, याच्, रुध्, प्रच्छ्, भिक्ष्, चिञ्, ब्रूञ् तथा शास्- ये आठ धातु द्विकर्मक हैं । भाष्योक्त इस श्लोक में पठित “च” ग्रहण से, माधव के अनुसार, आचार्य सुधाकर को निम्न अतिरिक्त पाँच धातुओं का ग्रहण या उपसंख्यान और अभीष्ट है। तद्यथा तारि, ग्राहि, मोचि, त्याजि तथा दीप् ।<sup>५</sup> किन्तु इन पाँच धातुओं में तीन को द्विकर्मक मानना : विचारणीय ही है। क्योंकि तारि धातु तो गत्यर्थक होने से, ग्राहि धातु बुद्धयर्थक होने से एवं दीप् धातु के अकर्मक होने के कारण अथवा अन्तर्भावित प्यर्थ मानकर उसके बुद्धयर्थक होने से “गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ”<sup>६</sup> इस सूत्र द्वारा अन्यथासिद्ध हैं।<sup>७</sup> दण्ड् तथा दीप् या दाप् धातुओं का छान्दस प्रयोग होने से वे यथाविहित ही साधु हैं।<sup>८</sup> क्योंकि छान्दस प्रयोगों के लिए यह न्याय प्रसिद्ध है- “दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति”<sup>९</sup> अर्थात् वेद में जैसा प्रयोग दृष्टिगोचर हो वैसा ही अनुविधान कल्पित कर लेना चाहिए। इस प्रकार केवल दापि, त्याजि तथा मोचि इन तीनों णिजन्त धातुओं का ही उपसंख्यान कर्तव्य शेष रह जाता है जो कि गत्यादि सूत्र में कर देना चाहिए।”

द्विकर्मक धातुओं का परिगणन करते हुए भाष्यवार्तिककार आगे कहते हैं -

“नीवहोर्हरतेश्चापि गत्यर्थानां तथैव च ।

द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥”<sup>१२</sup>

अर्थात् नी, वहि, ह तथा सभी गत्यर्थक धातु<sup>१३</sup> भी द्विकर्मक हैं। किन्तु अर्वाचीन वैयाकरण टीकाकारों के अनुसार उक्त श्लोक में पठित “तथैव च” ग्रहण से जि, दण्ड्, कृष्, पच्, मन्थ, ग्रह् और धा-ये अन्य आठ धातु भी गृहीत हो जाती हैं।<sup>१४</sup> भाष्यवार्तिककार द्वारा किए गए इस परिगणन का लाभ या प्रयोजन यह है कि उक्त सभी धातुओं के योग में अपादानादि विशेष कारको की विवक्षा न होने पर फिर “अकथितं च”<sup>१५</sup> सूत्र से इन अपादानादि कारकों की कर्मसंज्ञा हो जाएगी। परिणामतः “कर्मणि द्वितीया”<sup>१६</sup> से द्वितीया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। यदि उक्त परिगणन न किया जाता तो “नटस्य शृणोति” इत्यादि प्रयोगों में भी “अकथितं च” सूत्र प्रवृत्त होकर अनिष्ट प्राप्त हो जाता। द्विकर्मक धातुओं के उदाहरण इस प्रकार है- “गां दोग्धि पयः। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं धर्मं ब्रूते।” यहाँ इन सभी उक्त उदाहरणों में क्रमशः अपादान, अधिकरण तथा सम्प्रदान कारकों की विवक्षा<sup>१७</sup> न करने पर क्रमशः गो, व्रज तथा माणवक शब्दों की उपर्युक्त सूत्र से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। यहाँ यह भी अवश्य ध्यातव्य है कि भाष्यवार्तिककार द्वारा पठित श्लोक में परिगणित धातु ही द्विकर्मक नहीं होते अपितु इनके साथ-साथ इनके पर्यायवाची धातु भी द्विकर्मक होते हैं।<sup>१८</sup> परिणामतः निम्न भाष्य प्रयोग सुसंगत हो जाते हैं..... “शकारमसि चोदितः”<sup>१९</sup> इत्यादि।”

व्याकरणशास्त्र में अभिधान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। “शिष्टानां ततोऽर्थबोधस्वरूपम्” अर्थात् शिष्टों में अर्थबोध हो जाना ही अभिधान का स्वरूप है। अभिधान के विषय में जिज्ञासा होने पर प्रायः यही कहा जाता है कि यह शब्द तो प्रयुक्त या निष्पन्न (परिनिष्ठित) होता है और वह नहीं। शब्दशक्तिस्वभावात् लोक में ऐसे शब्द का अभिधान, प्रयोग या व्यवहार नहीं होता है। शब्दशक्तिस्वभाव के कारण ही शब्दों में नियतविषयता देखी जाती है।<sup>२०</sup> तदनुसार कहीं प्रकृति का प्रयोग होता है और कहीं विकृति का।<sup>२१</sup> शब्दार्थ सम्बन्ध की लोकसिद्धता (संज्ञा प्रामाण्य) के विषय में भी भाष्यकार का यह वचन अवश्य ध्यातव्य है-

“अभिधान लक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः”।<sup>२२</sup>



इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रदीपकार कहते हैं- “कृतद्धितसमासाभिधानं नियामकं लक्षणं त्वनभिज्ञानां तदभिज्ञानसूचकम्” अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सम्बन्धी सूत्रों का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है। दूसरे शब्दों में- प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा यदि शब्द से उस अभीष्ट अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। इस विषय में भाष्यकार प्रोक्त वार्क्षमूलः उदाहरण की लौकिक अनुपपन्नता स्पष्ट निर्देशन है। शब्द से अर्थ का अभिधान अभीष्ट है। वह अर्थ मुख्य रूप से सिद्ध होने पर भाष्यवार्तिककार उसके साधन की विशेष चिन्ता नहीं करते। इनका पदे-पदे अनभिधानात् कहना ही साधन प्रक्रिया को गौण सूचित कर रहा है। इस अभिधान-अनभिधान रूपी ब्रह्मास्त्र से भी भाष्यकार ने अनेक सूत्रों का अन्वाख्यान प्रत्याख्यान किया है। पदमञ्जरीकार के अनुसार अभिधान के स्वभाव को समझने के लिए भाष्योक्त निम्न कारिका भी देखी जा सकती है-

“भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।  
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मत्तुबादयः” ।

यहाँ मत्तुप् आदि का बहुत्व अभिधानवशात् विशिष्ट ही आश्रमणीय है।<sup>२३</sup> इसीलिए एक-दो गाय रखने के कारण कोई व्यक्ति ‘गोमान’ नहीं कहलाता अपितु अभिधानबलात् अधिक गाय रखने से ही वह गोमत् पदभाक् हो सकता है। इसी प्रकार थोड़ा-बहुत रूप तो हर किसी के पास होता है परन्तु ‘रूपवान’ वही कहलाता है जिसके पास पर्याप्त प्रशक्त रूप सम्पत् हो। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए। मत्तुप् आदि के अन्य उदाहरण निम्न है, निन्दा अर्थ में जैसे- कुष्ठी या ककुदावर्तिनी कन्या, नित्य योग में जैसे-क्षीरिणो वृषाः । अतिशायन अर्थ में जैसे- उदरिणी कन्या, संसर्ग अर्थ में जैसे दण्डी या छत्री तथा अस्ति विवक्षा में जैसे- अस्तिमान्। अभिधान को ही संस्कृत व्याकरण में शब्द शक्तिस्वभावे नाम से भी कहा जाता है।

परन्तु यह अभिधान अनभिधान बड़ा दुर्ज्ञान है। इसके लिए व्यक्ति को बहुदर्शी होना आवश्यक है। वर्तमान में यह अधिकार वैयाकरण निकाय में भाष्यवार्तिककार तक ही सीमित है जो कि संस्कृत भाषा की तात्कालिक जीवन्त स्थिति को संकेतित करता है।<sup>२४</sup> इसके अतिरिक्त शब्दों का यह अभिधान-अनभिधान सहसा न होकर विद्वानों के लिए गवेषणीय है। क्योंकि शब्दों के इस अभिधान-अनभिधान के मूल में कोई न कोई मनोवैज्ञानिक या जड़वैज्ञानिक अर्थात् मानसिक चिन्तन की प्रक्रिया के अनुसार अथवा जड़ पदार्थ के

स्वभावानुसार हेतु या कारण अवश्य ही होना चाहिए। अवधेय है कि अभिधान-अनभिधान की इतनी महत्ता होने पर भी व्याकरणशास्त्र में इसे आपातरमणीय दुर्बल समाधान के रूप में अगतिकगति माना गया है।<sup>२४</sup>

वास्तव में व्याकरणशास्त्र में अभिधान शब्द का प्रायः दो शब्दों में प्रयोग देखा जाता है। एक तो किसी शब्द का शिष्ट लोक में प्रयोग या प्रचलन होना तथा दूसरा शास्त्र में किसी प्रत्यय आदि से कर्ता-कर्म-भावादि अर्थ का विशेष कथन, बोध या संकेत होना, जैसे-पाणिनी व्याकरण का सारा कारक प्रकरण इस अभिधान-अनभिधान व्यवस्था से ही संचालित होता है। इनमें किसी शब्द के लौकिक अभिधान के विषय में ऊपर कहा जा चुका है, जहाँ तक शास्त्रीय अभिधान का सम्बन्ध है तो उसके विषय में निवेदन है कि भाष्यवार्तिककार के अनुसार यह अभिधान प्रायः तिङ् प्रत्यय, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय तथा समास से होता है।<sup>२५</sup> ध्यातव्य है कि जो भी कर्ता-कर्मरूप कारकादि विशेष अर्थ किसी प्रत्यय विशेष से अभिहित हो जाता है तो फिर उसको व्यक्त करने वाले शब्द में “उक्तार्थानामप्रयोगः”<sup>२६</sup> इस न्याय से तत्तत् कर्ता-कर्मरूप कारकादि अर्थप्रयुक्त क्रमशः तृतीया-द्वितीया आदि विशेष विभक्ति उत्पन्न नहीं होती अपितु उसके केवल प्रातिपदिकार्य रूप शेष रह जाने से उसको वाक्यार्ह पदत्व सामर्थ्य प्रदान करने के लिए, अन्यथा “अपदं न प्रयुञ्जीत” नियम प्रवृत्त हो जाएगा, “प्रथमातिक्रमे कारणाभावः” न्याय से “सुप्तिङन्तपदम्”<sup>२७</sup> सूत्रानुसार प्रथमा विभक्ति विधान कर दी जाती है। इसी बात की पुष्टि भाष्यवार्तिककार ने “अभिहिते प्रथमा”<sup>२८</sup> ऐसा कहकर की है।

इनमें तिङ् प्रत्यय से अर्थ का अभिधान जैसे - “हरिः सेव्यते” यहाँ “लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः”<sup>२९</sup> सूत्रानुसार लादेश ‘त’ प्रत्यय से कर्म का अभिधान होने से हरि में प्रथमा विभक्ति होती है। कृत् प्रत्यय से अर्थ का अभिधान, जैसे- “लक्ष्म्या सेवितः” यहाँ “तयोखे कृत्यक्तखलार्थः”<sup>३०</sup> सूत्रानुसार ‘क्त’ प्रत्यय से कर्म का अभिधान होकर उसमें प्रथमा विभक्ति आयी है। तद्धित प्रत्यय से अर्थ का अभिधान जैसे ‘शतेन क्रीतः शत्यः’ यहाँ “तेन क्रीतम्”<sup>३१</sup> सूत्रानुसार ‘यत्’ प्रत्यय से पटादि रूप क्रीत कर्म का अभिधान होकर उसमें प्रथमा विभक्ति आयी है। समास से अर्थ का अभिधान, जैसे-‘प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः ग्रामः’ यहाँ अन्य पदार्थ ग्राम रूप कर्म का बहुब्रीहि समास से अभिधान होने के कारण प्रथमा विभक्ति हुई है। पूर्वोक्त भाष्यवार्तिक में ‘प्रायः’ यह कहने का यह अभिप्रायः है कि इस विशेष अर्थ का अभिधान कभी-कभी निपात से भी देखा जाता है, जैसे- “विषवृक्षोऽपि संवर्ध स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्”<sup>३२</sup>

तथा “क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः”<sup>३४</sup> यहाँ उभयत्र “असाम्प्रतम्” तथा “इति” इन निपातों से कर्म का अभिधान होने से क्रमशः विषवृक्ष तथा नारद रूप कर्मों में द्वितीया विभक्ति न आकर प्रातिपदिकार्थ मात्र की प्रथमा विभक्ति ही आती है।

द्विकर्मक धातुओं पर विचार करते समय यह महत्त्वपूर्ण बात ही अवधेय है कि “याचते पौरवम् कम्बलम्” इत्यादि प्रयोगों में इनका कर्तृवाच्यगत प्रयोग तो निरापद, असन्दिग्ध तथा स्पष्ट है किन्तु इसका कर्मवाच्य बनाते समय यह सन्देह उत्पन्न होता है कि लादेश ‘त’ आदि प्रत्ययों से स्वाभाविक रूपेण प्रधान कर्म को अभिहित माना जाए या गौण कर्म को। ध्यान रहे कि व्याकरण शास्त्र में “अकथितं च” सूत्रविहित कर्म गौण कर्म के नाम से जाता है। इसका उत्तर यह है कि सामान्यतः तो “प्रधानाप्रधानयाय”<sup>३५</sup> से प्रधान कर्म का ही लादेशों से अभिधान होता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रधान कर्म का ही अभिधान सम्भव है। गौण कर्म के तो कारक ही न होने से उसका अभिधान सम्भव ही नहीं है। फिर भी यदि लादेशों से प्रधान कर्म को अभिहित माना जाए तो फिर पूर्वोक्त गौण कर्मरूप पौरव में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी। क्योंकि उक्त वाक्य में पौरव रूप गौण कर्म अकथित है। अतः उसके कारक न होने से वहाँ षष्ठी विभक्ति प्राप्त होगी। यदि तो उसे कारक मान लिया जाए तब तो उसमें अपादान वाली पञ्चमी विभक्ति होकर इष्ट सिद्ध हो जाता है।<sup>३६</sup> यदि तो “अनभिधानात्” यहाँ षष्ठी का अभाव स्वीकार किया जाए तो बात अलग है।<sup>३७</sup>

इसके अतिरिक्त लादेशों से यदि प्रधान कर्म का ही अभिधान स्वीकार किया जाए तो फिर दुह् आदि धातुओं में अव्यवस्था रूप दूसरा दोष भी प्राप्त होता है अर्थात् उक्त नियम के आधार पर फिर दुह् आदि में भी प्रधान कर्म का ही अभिधान प्राप्त होता है जबकि यहाँ हमें गौण कर्म का अभिधान इष्ट है। परिणामतः गौ दुह्यते पयः के स्थान पर गां दुह्यते पयः ऐसा अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होगा। अतः भाष्यवार्तिकवचनप्रामाण्य से दुह् आदि धातुओं के योग में तो अप्रधाधान या गौण कर्म का अभिधान ही एष्टव्य है।<sup>३८</sup>

वस्तुतः यदि देखा जाए तो उक्त व्यवस्था ठीक भी है कि ‘दुह्’ आदि के योग में अप्रधान कर्म को ही लादेशों से अभिहित माना जाए। क्योंकि भौतिक जड़ पदार्थ के नियमानुसार भी दुग्धार्थी अन्तरङ्गत्वात् पहले गौ (अप्रधान कर्म) के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता है तथा बाद में दुग्ध (प्रधान) के साथ। इसके विपरीत दुह् आदि से भिन्न ‘नी’ आदि धातुओं के योग में प्रधान कर्म को अभिहित मानना भी युक्तिसंगत है। क्योंकि वहाँ भी ग्राम

रूप अप्रधान कर्म की अपेक्षा अजा रूप प्रधान कर्म के साथ पूर्वभावित्वात् पहले सम्बन्ध होता है। अतः उक्त अभिधान-अनभिधान व्यवस्था न्यायसिद्ध ही है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि दुह् आदि धातुओं के साथ-साथ जि, दण्ड तथा मुष् धातुओं के योग में भी अप्रधान कर्म को ही अभिहित मानना चाहिए।<sup>३६</sup> इस प्रकार दुह् आदि के कर्मवाच्य में निम्न तीन प्रयोग साधु हैं-

१. अपादान विवक्षा-गौः पयो दुह्यते ।
२. अकथित कर्म-गौः पयो दुह्यते ।
३. विशेषण रूप या सम्बन्ध में षष्ठी-गौः पयो दुह्यते ।

आगे भाष्यकार ने एक रोचक प्रश्न उठाया है कि अजां ग्रामं नयति इत्यादि वाक्यों के लिए इन नी आदि धातुओं को द्विकर्मक मानने की क्या आवश्यकता है। किन्तु तब उक्त वाक्यों में अजा के साथ-साथ ग्राम में भी द्वितीया विभक्ति कैसे सिद्ध होगी तो इसके उत्तर में निवेदन है कि “प्रविश पिण्डीम्” इस न्याय के आधार पर वहाँ “ग्रहण” क्रिया का आक्षेप करके ग्राम में द्वितीया विभक्ति हो जाएगी। भाव यह है कि जैसे “प्रविश पिण्डीम्” यहाँ “ग्रामं प्रविश पिण्डी भक्षण” इस प्रकार अप्रयुक्त भक्षण क्रिया का आक्षेप करके पिण्डी की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो जाती है वैसे ही अजां ग्रामं नयति यहाँ भी “अजामसौ गृहीत्वा ग्रामं नयति” इस प्रकार वाक्यार्थग्रहण करके अजा को ग्रहण क्रिया का कर्म बनाकर द्वितीया सिद्ध हो जाएगी।<sup>३७</sup> किन्तु यहाँ सब दोष आता है कि ऐसा मानने पर फिर लादेशों से होने वाली कर्ता और कर्म आदि के अभिधान की व्यवस्था उपपन्न नहीं हो पाती अर्थात् तब उक्त वाक्य के कर्मवाच्य में लादेश त् प्रत्यय आदि से अजा रूप प्रधान का अभिधान प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अजा तो ग्रहण (गृहीत्वा) क्रिया का कर्म है, लादेश त् प्रत्यय का नहीं। अतः “अजां नीयते ग्रामः” ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा।<sup>३९</sup>

लादेशों के द्वारा कर्म के अभिधान प्रसङ्ग में विजन्त प्रक्रियागत कर्म भी विचारणीय है। क्योंकि वहाँ दो कर्म हैं।-१. प्रयोज्य तथा प्रधान कर्म एवं २. साधारण अप्रधानकर्म। ऐसी स्थिति में लादेशों से किस कर्म का अभिधान होना चाहिए? इस आकाङ्क्षा के उत्तर में निवेदन है कि भाष्यकार पहले तो गतिबुद्धि सूत्रपोक्त गमनार्थक से भिन्न धातुओं के योग में लादेशों द्वारा अप्रधान कर्म का अभिधान कथन करते हैं।<sup>३८</sup> परिणामतः “माणवकं धर्मः बोधयते” इत्यादि वाक्य सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि माणवकरूप प्रयोज्य कर्म तो प्रयोजक

व्यापार द्वारा आप्यायमान होने से प्रधान कर्म है। अतः लादेश त् प्रत्यय से वह अभिहित नहीं हुआ।<sup>१३</sup> किन्तु आगे चलकर भाष्यकार “अपर आह” के नाम से “प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणि”<sup>१४</sup> ऐसा कहते हुए पुनः प्रयोज्य तथा प्रधान कर्म रूप माणवक में अभिधान स्वीकार कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप “माणवकः धर्मं बोध्यते” यह प्रयोग भी साधु सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः देखा जाए तो गतिबुद्धिः सूत्रप्रोक्त गतिभिन्न धातुओं के योग में विवक्षा के कारण दोनों कर्मों में वैकल्पिक गुणप्रधानभाव इष्ट होने से उक्त दोनों रूप सिद्ध हो जाते हैं।<sup>१५</sup> इसी प्रकार गत्यर्थक तथा अकर्मक धातुओं के योग में भी लादेशों से प्रधान कर्म ही अभिहित होता है।<sup>१६</sup> तद्व्यथा- “मासमास्यते देवदत्तः” तथा “ग्रामं गम्यते देवदत्तः”। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि लादेशों द्वारा दुह् आदि के तो अप्रधान कर्म तथा नी, कृष्, वह, इन धातुओं के प्रधान कर्म का नित्य अभिधान होता है। इसी प्रकार गत्यर्थक तथा अकर्मक णिजन्त धातुओं में भी निश्चयेन प्रयोज्य या प्रधान कर्म में ही लादेश होते हैं। किन्तु बुद्ध्यर्थक, भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मा धातुओं के प्रधानाप्रधान कर्मों में वैकल्पिक गुण प्रधानभाव होने से लादेश भी उनमें विकल्प से होते हैं।<sup>१७</sup>

अभिधान के विषय में अब अन्त में एक यह शङ्का और उत्पन्न होती है कि वाक्य में किसी प्रत्यय से एक साथ कितने अर्थ अभिहित हो सकते हैं, तो इसका उत्तर है कि यद्यपि आचार्य पाणिनी इस विषय में मौन हैं तथापि टीकाकारों के अनुसार लक्ष्यानुरोध से अनेक अर्थों का युगपत् अभिधान नहीं होता। अथवा “सल्लक्ष्ये प्रवृत्तिः” न्याय से प्रत्यय एक अर्थ का अभिधान करके फिर दूसरे अर्थ को अभिहित करने का सामर्थ्य खो देता है और यह युक्तिसंगत भी है। क्योंकि यदि किसी प्रत्यय से अनेक अर्थों का युगपत् अभिधान मान लिया जाए तो सारा वाक्य गड़बड़ा जाएगा अर्थात् अनेक अर्थों के एक साथ अभिहित होने की अवस्था में फिर उन सबसे प्रथमा विभक्ति प्राप्त होगी। फलतः कारक विशेष का ज्ञान न हो पाने से श्रोता को स्फुट बोध या सर्वथा अर्थबोध नहीं हो सकेगा जो कि अनिष्ट है।

द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग को लेकर जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि यदि वेदों में उक्त परिगणित या अन्य द्विकर्मक धातुओं का प्रयोग दृष्टिगोचर न होता तो आचार्य पाणिनि “अकथितं च” सूत्र क्यों बनाते? निश्चयेन उनके इस सूत्र का बीज वैदिक साहित्य में उपलब्ध होना चाहिए। यह बात अलग है कि डा० एस०डी० जोशी (पूना) आदि आधुनिक समालोचक “अकथितं च” इस पाणिनि सूत्र को ही प्रक्षिप्त=पीछे से जोड़ा

गया=मानते हैं। इनके अनुसार दो कर्म हैं- ईप्सिततम कर्म तथा अनीप्सित या ईप्सितमात्र कर्म। इनमें प्रथम की कर्मसंज्ञा “कर्तुरीप्सिततमं कर्म”<sup>५८</sup> से हो जाती है तथा दूसरे सबकी जिनमें द्विकर्मक भी हैं, “तथायुक्तं चानीप्सितम्”<sup>५९</sup> से हो जानी चाहिए। अतः, इनकी दृष्टि में, यह सूत्र प्रक्षिप्त है। लेकिन उनकी यह बात विचार की अपेक्षा रखती है। क्योंकि निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य, ईप्सिततम, उदासीन, अनीप्सित तथा अपादानादि विशेष संज्ञाओं से अनाख्यात अकथित या अविवक्षित भेदों से कर्म सप्तविध हैं।<sup>६०</sup> ये सब कर्म अपने अलग-अलग सूत्रों के विषय हैं। असन्देह भी व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से केवल दो सूत्रों से वे सक कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। फलतः “तथायुक्तं चानीप्सितम्” सूत्र के विषय तो केवल द्वेष्य तथा उदासीन कर्म ही हैं। फलतः द्विकर्मक धातुओं के लिए “अकथितं च” सूत्र सर्वथा अर्थवन्ता रखता है। अतः इसे प्रक्षिप्त नहीं माना जा सकता।

अस्तु, वेदों में द्विकर्मक धातुओं के प्रयोग इस प्रकार हैं-

दुह्- “दुहे गां पिप्युषीमिषम्”<sup>६१</sup> अर्थात् मैं गौ से पुष्टिकारक अन्न को दुहता हूँ। यहाँ अपादान की अविवक्षा में “अकथितं च” से कर्म संज्ञा हो जाती है तो दुह् धातु के इष् और गो ये दो कर्म बन जाते हैं।

याच्- “अपो याचामि भेषजम्”<sup>६२</sup> अर्थात् मैं जलों से आरोग्य माँगता हूँ। यहाँ याच् धातु के अप और भेषज ये दो कर्म हैं।

प्रच्छ्- “विद्वांसाविद् दुरः पृच्छेदविद्वान्”<sup>६३</sup> अर्थात् अविद्वान् मनुष्य विद्वान् अश्वियों से द्वार पूछे या अपने कल्याण का मार्ग पूछे। यहाँ ‘प्रच्छ’ धातु के विद्वांसौ और दुरः ये दो कर्म हैं। अपादान की अविवक्षा में यहाँ “अकथितं च” से विद्वांसौ की कर्म संज्ञा हो गई।

ब्रूञ् या वच्- “तानो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य”<sup>६४</sup> अर्थात् वे दोनों विद्वान् अश्वी हमको मनन योग्य बातें बताएँ। यहाँ ‘वच्’ धातु के प्रयोग में विद्वांसा और मन्म ये दो कर्म हैं। वच् को चाहे तो ब्रूञ् के स्थान पर आदेश माना जाए, चाहे उसे स्वतन्त्र धातु माना जाए- दोनों ही स्थितियों में ब्रूञ् के समानार्थक होने से यह द्विकर्मक सिद्ध हो जाता है।

नी- “इमं यज्ञं नयत देवता नः”<sup>६५</sup> अर्थात् इस हमारे यज्ञ को देवताओं को पहुँचाओ। यहाँ नी धातु के यज्ञ और देवताएँ ये दो कर्म हैं। इस नी धातु का अन्य उदाहरण इस प्रकार है- “अग्ने! नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वायुनानि विद्वान्”<sup>६६</sup> अर्थात् हे अग्ने!

आप “अस्मान् विश्वानि वायुनानि नय” यानि हमको सम्पूर्ण उत्तम कर्म एवं विज्ञान प्राप्त कराओ। यहाँ नी धातु के अस्मान् और वायुनानि से दो कर्म हैं।

वह- “ता न आवोढमश्विना रयिं पिशङ्गसंदृशम्”<sup>५७</sup> अर्थात् हे अश्वियो। तुम हमको उत्तम चमकीला धन प्राप्त कराओ। यहाँ नः और रयिम् ये दो कर्म वह धातु के हैं।

ई- “इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा राजसः”<sup>५८</sup> अर्थात् हम इन्द्र से दान माँगते हैं। यहाँ ई धातु माँगने अर्थ में विशुद्ध रूप से वैदिक है तथा उपर्युक्त परिगणित द्विकर्मक धातुओं से बहिर्भूत है। यहाँ इन्द्रम् तथा सातिम् ये दोनों ईमहे क्रिया के कर्म हैं।

इस प्रकार आचार्य पाणिनी के “अकथितं च” सूत्रप्रोक्त द्विकर्मक धातुओं का बहुत विशाल प्रयोगक्षेत्र है। लौकिक संस्कृत साहित्य तो ऐसे प्रयोगों से समुल्लसित है ही, साथ ही, वैदिक साहित्य में भी उक्त पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर हो सकते हैं। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है। अन्वेषण करने से सम्भवतः अन्य भी द्विकर्मक धातु वेद में मिल जाएँ।

- डॉ० भीम सिंह

रीडर- संस्कृत विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

### सन्दर्भ संकेत

1. प्रसाद टीका (प्रक्रिया कौमुदी, सम्पा० कमला शंकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना, १९२५, सूत्र सं. १.३.२ पृ० १६  
“धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।  
आगमः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥”
2. निरुक्त, सम्पा० कपिलदेव शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९८५, अध्याय ४, पाद ४
3. वाक्यपदीय (वा०प०), सम्पा० के०वी० अभ्यङ्कर, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, पूना विश्वविद्यालय पूना, १९६५, कारिका सं० ३.७.८८
4. महाभाष्य (महा०, प्रदीपोद्घोतसहित), सम्पा० वेदव्रत शास्त्री, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झञ्जर (रोहतक), १९६२, भा० २ सू० १.४.५१, पृ० ४१५-१४

५. बृहच्छब्देन्दुशेखर (बृ० श० शे०), सम्पा० सीताराम शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९६०, भा० २ सू० ५३६ पृ० ८३५  
“ननु माधवेन...”  
“तारेग्रहिस्तथामोचेस्त्याजेर्दीपेश्च संग्रहः।  
कारिकायां च शब्देन सुधाकरमुखैः कृतः।।”  
इत्येननाऽन्येऽपि संगृहीताः।”
६. पाणिनीयाष्टाध्यायी (पा०) श्री धरशास्त्रिसम्पादित, भण्डारकर औरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट् पूना, १९३५, सूत्र सं० १.४.५२
७. द्र० बृ० श० शे० भा० २ सू० ५३६ पृ० ८३६-३७ “वस्तुतो ग्राहेर्बोधनार्थस्य गतिबुद्धीत्येव सिद्धम्... तारेरपि गत्यर्थत्वात्... दीपयतेश्चाकर्मकत्वादेव सिद्धिः”।
८. वही- ८३७ “क्वचिद् दापेरिति पाठः”।
९. वही ८३७-३ “तत्र ‘दण्डयो दाप्यश्च तद्धनमिति’ स्मृति प्रयोगात् ... दण्डये दाप्यश्चेति छान्दसं बोध्यम्।”
१०. महा० भा० १ सू० १.१.६ पृ० १८०
११. बृ० श० शे० भा० २ सू० ५३६ पृ० ८३७ “त्याजितैः फलमुत्खातैः (रघुवंशे ४.३३) इत्यादि महाकवि प्रयोगात्, सुधाकराद्युक्तेश्च, तथैव चेतिभाष्ये चकाराच्च दापि त्याजि मोचीनां गत्यादिसूत्रे उपसंख्यानमेव बोध्यम्”।
१२. महा० भा० १ सू० १.४.५१ पृ० ४२४
१३. गत्यर्थक से यहाँ अभिप्राय “गतिबुद्धि” सूत्रोक्त गत्यर्थक धातुओं से है।
१४. महाभाष्यप्रदीप (महा० प्र०) भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२४-  
“तथैव चेति- चकारेण जयत्यादयः समुच्चीयन्ते इत्याहुः”।
१५. पा० १.४.५१
१६. पा० २.३.२
१७. द्र० “विवक्षातः कारकाणि भवन्ति”।
१८. महा० प्र० भा० २ सूत्र १.४.५१ पृ० ४१५- “दुह्यादीनां चार्थोपलक्षणायोपादानात् पर्यायप्रयोगेऽपि कर्मसंज्ञा भवति”।
१९. महाभाष्यप्रदीपोद्घोत (महा० प्र० उ०) भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१५-  
“अर्थोपलक्षणायेति... अत एव शकारमसि चोदित’ इति ‘परस्मैपदानामिति’ सूत्रे भाष्ये



पृच्छिपर्यायस्य चुदेद्विकर्मकप्रयोगः संगच्छते”।

२०. महा० भा० १ पस्पशाह्निक, पृ० ३८ “एतस्मिन्नतिमहतिशब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद् यथाशवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति...”।
२१. निरुक्त, २.१ “अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु”।
२२. महा० भा० ३ सू० ३.३.१६ पृ० ३२७
२३. पदमञ्जरी (प०मं०) काशिका (का०) सम्पा० कालिका प्रसाद शुक्ल, तार प्रकाशन वाराणसी, १९६५
- २४.क प०मं० (का०) भा० ३ सू० ४.४.२३ पृ० ७४७- “अनभिधानं तु दुर्ज्ञानम्”  
ख प०मं० (का०भा० २ सू० ३.२.१ पृ० ५४१) “तच्चानभिधानं यत्रापैरुक्तं तत्रैव, अन्यत्र तु यथालक्षणं भवत्येव”।
२५. शब्दकौस्तुभ, सम्पा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस; सूत्र सं० २.४.२६ पृ० २६१ “इदं च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधानाश्रयणमगतिकगति, ...”
२६. द्र० महा० भा० २ सूत्रं २.३.१ पृ० ७६२ “तिङ्कृतद्धितसमासैः परिसंख्यानम्”
२७. महा० भा० १ सू० १.१.४४ पृ० ३३१
२८. पा० १.४.१४
२९. महा० भा० २ सू० २.३.१ पृ० ७५६
३०. पा० ३.४.६
३१. पा० ३.४.७०
३२. पा० ५.१.३७
३३. कुमारसम्भव (कालिदास ग्रन्थावली, सम्पा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी १९७६ श्लोक सं० २.५५
३४. शिशुपालवध, सम्पा० हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९८४; श्लोक सं० ३
३५. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१६ “प्रधानाप्रधानसन्निधौ प्रधानस्यैवाभिधानस्य न्याय्याखात्” ।
३६. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४१६  
“कथिते लादयश्चेत् स्युः षष्ठीं कुर्यात् तदा गुणे ।

अकारकं ह्यकथितात् कारकं चेत्तु नाऽकथा ।

कारकं चेद् विजानीयाद यां यां मन्येत सा भवे” ॥

३७. बृ० श० शै० भा० २ सू० ५३६ पृ० ८४४ “द्विकर्मकेषु गवादीनां कर्मत्वाविक्षायां क्रियान्वये षष्ठी न, अनभिधानात्। गोः पयो दोग्धीत्यतो गोसम्बन्धि पय इत्येव बोधात्”।
३८. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२२ “प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुद्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनाम्”।
३९. प०म० (का० भा० १ पृ० ५७६)- “तदयमत्र निर्णय :- नी वहि ह कृषिभ्य प्रधानकर्मणि लादयः, तत्सम्बन्धस्य पूर्वभावित्वात्। दुह्यादिभ्यो जिदण्डमुषिभ्यश्चाप्रधाने, तत्सम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात्”।
४०. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२४ “सिद्धं वाप्यन्यकर्मणः ... अन्यस्यात्राजा कर्मान्यस्य ग्रामः! अजामसौ गृहीत्वा ग्रामं नयति।” इसी स्थल पर प्रदीप भी द्रष्टव्य है- “यथा प्रविश पिण्डीमिति भक्षणापेक्षं पिण्ड्याः कर्मत्वं तथाजां ग्रामं नयतीत्यत्र ग्रहणापेक्षमजायाः कर्मत्वम्। नयतिस्तु प्राप्तिमात्रवाची। तेनाजां गृहीत्वा ग्रामं प्राप्नोतीति वाक्यार्थः सम्पद्यते।”
४१. वही पृ० ४२४ “अन्य कर्मेति चेद् ब्रूयाल्लादीना मविधिर्भवेत्... परसाधन उत्पद्यमानेन लेनाजाया अभिधानं न प्राप्नोति”।
४२. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२० “गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे... सहपरे योगेन गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स षौ।
४३. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२१ “प्रयोजकव्यापारेणाप्यमानत्वान् माणवकस्य प्राधान्यं धर्मादिस्तु गुणभावः”।
४४. महा०भा० २ सू० १.४.४१ पृ० ४२०
४५. महा० प्र० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२३ “माणवकं धर्मं बोधयतीत्यादावनियमतो गुणप्रधानभाव इत्याहुः”।
४६. महा० भा० २ सू० १.४.५१ पृ० ४२२ “ध्रुवयुक्तिषु (अकर्मकेषु) चेष्टितयुक्तिषु गत्यर्थेषु चाप्यगुणे कर्मणि लादयो भवन्ति”।

४७. महा० प्र० उ० भा० २ सू० ५३६ पृ० ४२५-  
गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।  
बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मणां च निजेच्छया।।  
प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां लादयो मताः।  
लक्ष्यं दृष्ट्वा निर्णयोऽत्र कर्तव्यो भाष्यपारमैः।।
४८. पा० १.४.४६
४९. पा० १.४.५०
५०. द्र० वा०प० ३.७.४५.४६  
“निर्वृत्यं च विकार्यं च प्राप्यं चेति त्रिधा मतम्।  
तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धाऽन्यतु कल्पितम्।।  
औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम्।  
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम्।।
५१. ऋग्वेद (ऋक्०), सम्पा० विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर,  
१९६४-६५
५२. वही १०.६.५
५३. वही १.१२०.२
५४. ऋग्वेद (ऋक्०), सम्पा० विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर,  
१९६४-६५, १.१२०.३
५५. वही, ४.५८.१०
५६. वही, १.१८६.१
५७. यजुर्वेद. सम्पा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल पारडी, १९७०; मन्त्र  
सं० २०.८३
५८. ऋक् १.६.१०



# न्याय दर्शन में छल का सम्प्रत्यय : अर्थ एवं भेद

न्याय-दर्शन में छल का सम्प्रत्यय-

प्रस्तुत निबन्ध में न्याय दर्शन से अभिप्राय गौतम मुनि प्रणीत न्याय शास्त्र से है जिसकी गणना षड्, वैदिक दर्शनों के अन्तर्गत की जाती है और न्याय चिंतन-परम्परा में जिसे “प्राचीन-न्याय” के नाम से भी जाना जाता है। न्याय-दर्शनकार का इस शास्त्र की रचना के मूल में मुख्य प्रयोजन निश्रेयस का प्रतिपादन जान पड़ता है, जैसा कि इस शास्त्र के प्रथम सूत्र-

प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णयवाद जल्पवितण्डा  
हेत्वा भासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः ॥ १-१-१

से पता चलता है- अर्थात्-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्तावयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभासच्छल, जाति और निग्रह स्थान के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि होती है।

किन्तु इन सभी सम्प्रत्ययों के तत्वज्ञान से किस तरह निःश्रेयस की प्राप्ति होगी और उसका स्वरूप कैसा होगा? इस विषय में भारतीय दार्शनिक जगत में पर्याप्त मतभेद है और कई दार्शनिक तो इस कारण न्याय शास्त्र को मोक्षशास्त्र मानने के लिये तैयार भी नहीं हैं। परन्तु इन सम्प्रत्ययों का गहराई से अनुशीलन करने से यह कहा जा सकता है कि इन सौलह में से कुछ सम्प्रत्यय तो ऐसे हैं, जिनके अध्ययन-मनन से निःश्रेयस की सिद्धि में सहायता मिलती है। इसलिये ऐसे सम्प्रत्ययों को निःश्रेयस का साधन या विधायक पक्ष कहा जा सकता है। जिनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय और वाद- ये दस सम्प्रत्यय सम्मिलित हैं।

इनके अलावा न्यायदर्शनकार ने जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान- इन छः सम्प्रत्ययों को निःश्रेयस का साधन माना है और यथा प्रसंग अपने ग्रन्थ में सूत्र रूप में इनकी व्याख्या भी की है। हम इन्हें निःश्रेयस का निषेधात्मक पहलू कह सकते हैं। क्योंकि इनके अध्ययन से निःश्रेयस मार्गी निहित स्वार्थी तत्वों के दृषित प्रयासों को यथा तथ्य समझ

सकता है और स्व लक्ष्य की संसिद्धि हेतु निर्दिष्ट पथ पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रह सकता है जो कि इस मार्ग के पथिक के लिये नितान्त आवश्यक है।

अस्तु, यदि हम उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर छल, नामक सम्प्रत्यय का अवलोकन करें, जो प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय भी है, तो वह निःश्रेयस के निषेधात्मक पक्ष के अन्तर्गत आता है। और षोडश पदार्थ गणनाक्रम में शास्त्राकार ने उसे चौदहवें स्थान पर रखा है। इससे छल के प्रति शास्त्रकार के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। इसे और अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने के लिये यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि छल जैसे नकारात्मक सम्प्रत्यय को तत्त्वतः जानना क्यों निःश्रेयस मार्गी के लिये आवश्यक है जिस कारण शास्त्रकार को उसे ग्रन्थ में स्थान देना पड़ा। इस प्रसंग में शास्त्रकार के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये यह हेतु दिया जा सकता है कि जिज्ञासु को मोक्ष मार्ग से विमुख करने वाले अनेक दार्शनिक मत पथ हो सकते हैं। उनके आचार्य जिज्ञासु को स्व पथ की ओर आकर्षित करने के लिये छलादि दूषित साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी सम्भावना के होने पर जिज्ञासु का छलादि सम्प्रत्यय की भेद सहित तात्त्विक जानकारी होना मोक्षमार्गी के लिये आवश्यक है। ताकि कोई विगतवादी उसे छल द्वारा अभीष्ट पथ से विमुख न कर सके।

इसी प्रसंग में एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि क्या न्याय दर्शनकार की दृष्टि में छल को तत्त्वतः जानना मात्र आवश्यक है। ताकि विमतवादी के छल-तर्क से बचा जा सके। अथवा स्वपक्ष के स्थापन एवं प्रचार के लिये उसका प्रयोग भी किया जा सकता है। छल के प्रयोग के सन्दर्भ में जहाँ तक न्याय शास्त्रकार के दृष्टिकोण का प्रश्न है उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई सीधा दिशा निर्देश तो नहीं दिया। परन्तु न्याय दर्शन के चौथे अध्याय की दूसरी आहिनका में सूत्र सं० ५० व ५१ में जल्प व वितण्डा के प्रयोग की दो कारणों से शास्त्रकार ने अनुमति अवश दी है (१) तत्वाध्यवसाय संरक्षणार्थ अर्थात् जैसे बोये हुये बीज के अंकुरित होने पर कटीली झाड़ियों की बाड़ द्वारा उसकी पशु आदि से रक्षा की जाती है (२) अन्याय, अभिमान ग्रस्त प्रतिपक्षी द्वारा तिरस्कृत तत्वज्ञानी व्यक्ति द्वारा प्रतिपक्षी को तत्वज्ञान का यथार्थ मार्ग दिखाने हेतु भी जल्प, वितण्डा का प्रयोग कर सकते हैं- न्यायशास्त्र की दृष्टि से ।

छल के प्रयोग के सन्दर्भ में भी शास्त्रकार का यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है इसके दो कारण हैं (१) जल्प और वितण्डा- ये दोनों कथार्ये छल, जाति एवं निग्रह स्थान जैसे दूषित साधनों के प्रयोग पर ही निर्भर हैं। जल्प एवं वितण्डा के सम्बन्ध में जैसा कि न्याय दर्शनकार

का कथन है- “यथोक्तोपपन्न श्रुजाति निग्रह स्थान साधनो वालम्भो जल्पः”। न्याय- १-२-२ एवं स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा- न्याय १-२-३ । अतः शास्त्रकार के लिये छल के प्रयोग का अलग से विधान करना आवश्यक नहीं था। इसके अलावा न्याय दर्शन के जिस प्रकरण में जल्प एवं वितण्डा के प्रयोग की गौतम ऋषि ने सीमित अनुमति दी है। उससे आगे हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान नामक सम्प्रत्यय आते हैं। जाति एवं निग्रहस्थान के ऊपर पूरा पन्चम अध्याय केन्द्रित है। शास्त्रकार ने हेत्वाभास के सभी रूपों की न्याय दर्शन के पाँचवें अध्याय के अंतिम सूत्र में निग्रह स्थान में गणना की है। इसलिये भी उसके लिये अलग से प्रयोग करने के विधान की आवश्यकता शास्त्रकार ने नहीं समझी है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि छल का प्रयोग भी न्याय शास्त्रकार को जल्प एवं वितण्डा की भाँति ही सौद्देश्य एवं सीमित रूप में धर्मतत्व रक्षणार्थ ही मान्य है।

छल के प्रसंग में ही यहाँ यह उल्लेखनीय तथ्य है कि गौतम मुनि प्रणीत न्यायशास्त्र विश्व का ऐसा पहला दार्शनिक ग्रन्थ है जिसके अन्तर्गत निःश्रेयस के सन्दर्भ में छल सम्प्रत्यय के तात्विक ज्ञान एवं प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण भी उसे अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों की कटु आलोचना का पात्र बनना पड़ा है। परन्तु यदि न्यायदर्शन की रचना कालीन परिस्थितियों, जिनका यत्रतत्र संकेत भारतीय दार्शनिक साहित्य में पाया जाता है, की ओर तनिक भी ध्यान दिया जाये तो विरोधियों की छल सम्बन्धी आलोचनायें अधिक अर्थपूर्ण प्रतीत नहीं होंगी। भारतीय सन्दर्भ में तो, विशेषकर ऐसे वातावरण में जहाँ स्वमत पथ की स्थापना का प्रमुख आधार ही विद्वानों के मध्य होने वाला “शास्त्रार्थ” बन गया था, छल को शास्त्रार्थ का कवच बनाना न केवल सम्भव ही था अपितु उससे भी आसान था तत्वज्ञान के सरल जिज्ञासु को छल तर्क के प्रयोग से स्व-पथ की ओर आकर्षित करना ।

जहाँ तक छल के दार्शनिक स्वरूप विवेचना का प्रश्न है इस सन्दर्भ में न्यायदर्शन ही हमारा ठीक-ठीक मार्गदर्शन कर सकता है। क्योंकि परवर्ती न्याय चिंतन परम्परा, जिसे आधुनिक शब्दावली में “नव्य न्याय” के नाम से जाना जाता है, के अन्तर्गत प्रमाण का विशद-विवेचन हुआ है। इसी कारण नव्य न्याय में हेतु, व्याप्ति तथा हेत्वाभास पर तो पर्याप्त सामग्री मिलती है परन्तु छलादि नकारात्मक एवं गैर प्रमाण मीमांसीय सम्प्रत्ययों के बारे में यह मौन है। यही कारण है कि आज भी छल के यथार्थ स्वरूप एवं भेदों को जानने के लिये न्याय-चिंतन परम्परा में गौतम मुनि प्रणीत न्याय दर्शन के अलावा अन्य सभी प्रामाणिक स्रोत अभी तक अप्राप्य ही हैं। इसलिये, इस सन्दर्भ में, न्याय दर्शन पर निर्भर रहना एक प्रकार की विवशता भी है और प्रामाणिकता भी ।

न्याय दर्शन में छल का अर्थ :-

सामान्य दैनिक जीवन में कपट युक्त व्यवहार को छल समझा जाता है, किन्तु न्याय दर्शनकार ने ऐसे कपटपूर्ण व्यवहार की एक निश्चित परिभाषा दी है जो छल के वास्तविक स्वरूप को समझने में विशेष रूप से सहायक है। दर्शनकार के शब्दों में- “वचनविधातोऽर्थोविकल्पो पपत्या छलम्”- न्याय १-२-१० अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके, उसके कथन का खण्डन छल कहा जाता है। उदाहरणतः वक्ता ने वर्ण शब्द का उच्चारण ‘वृ’ वरणे धातु के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए वैदिक वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए समाजवाद से उसकी तुलना करनी चाही; परन्तु प्रतिवादी उसके मूल अर्थ को ग्रहण न करके वर्ण शब्द को “रंग” के अर्थ में लेते हुए यदि यह कहे कि आपके अनुसार वर्ण का अर्थ रंग है और रंगभेद पर आधारित कोई भी समाज व्यवस्था समाजवाद से तुलनीय कैसे हो सकती है। अतः आपका कथन अमान्य है। तब ऐसी स्थिति में प्रतिवादी छल का प्रयोग कर रहा होता है।

छल के भेद-

गौतम मुनि के मतानुसार छल के तीन भेद या विभाग हैं- यथा-

‘तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च’ ॥ १-२-११

अर्थात्

१- वाक्छल

२- सामान्य छल

३- उपचार छल

१. वाक्छल-

न्याय दर्शनकार गौतम मुनि के शब्दों में-

‘अविशेषाअभिहितेअर्थे वस्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्’ ॥ १-२-१२

अर्थात् सामान्य रूप से कहे गये कथन में वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करना वाक्छल है, जैसे-नवयः कम्बलः अस्या। इस कथन से वक्ता का सीधा अभिप्राय है कि इसका कम्बल नया है। किन्तु छलवादी ऐसे प्रकरण में “नव” शब्द का संख्या वाचक अर्थ “नौ” करके प्रतिप्रश्न करता है कि आप कैसे कह रहे हैं कि इसके पास नौ कम्बल हैं। इसके पास तो केवल एक ही कम्बल है। अतः आप का कथन मिथ्या है। इस उदाहरण में वाणी द्वारा

उच्चारित पद 'नव' शब्द के आधार पर छल होने से इसका नाम वाकूछल है।

**निराकरण-**

इसका निराकरण करने हेतु प्रथम वक्ता द्वारा छलवादी को इस प्रकार का उत्तर दिया जाना चाहिए कि आप के अनुसार 'मैंने कहा कि इस बालक के पास नौ कम्बल हैं'- यह आपने कैसे अथवा किस हेतु से जाना? मैंने कहा था कि इसका कम्बल 'नव' अथवा नया है जो सामने दीख रहा है। आप कोई प्रमाण दीजिए जिससे आपका कथन सत्य सिद्ध होवे अन्यथा आप का उक्त कथन नितान्त मिथ्या है।

२- सामान्य छल :- न्याय दर्शनकार के शब्दों में-

**'सम्भवतो अर्थस्यातिसामान्यो गा दू सम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्। १-२-१३**

अर्थात्, यह छल वहाँ होता है, जहाँ सम्भव हो सकने वाले अर्थ की अत्यन्त सामान्य के साथ असम्बन्ध अर्थ की कल्पना कर ली जाती है तथा उसके आधार पर दूसरों के कथन में दोष निकाला जाता है। यह सामान्य छल कहलाता है। जैसे किसी वक्ता ने किसी विशेष अर्थ में कोई सम्भावना व्यक्त कर दी किन्तु उस सम्भावना को अत्यन्त सामान्य आधार में ले जाकर जोड़ देना और एक असम्भव अर्थ की परिकल्पना कर लेना तथा उस कल्पना के आधार पर वक्ता के कथन को मिथ्या सिद्ध करना। उदाहरणतः-

एक वक्ता ने अपनी प्रसन्नता को व्यक्त करने के लिए कहा, "अहो खल्वसौ ब्राह्मणोः विद्याचरण सम्पन्नः" । इस वक्तव्य के अनुसार यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है । इस कथन पर अन्य व्यक्ति ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा- "सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणे सम्पन्नः"। अर्थात्- ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति का होना सम्भव है। किन्तु यदि इस कथन की सम्भावना को छलवादी अति-सामान्य के साथ अर्थात् जन्मगत ब्राह्मणों के साथ जोड़ देता है और एक असम्भव अर्थ की कल्पना करते हुए कहता है कि यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार की सम्पत्ति संभव है तो 'व्रात्य' में भी उसी तरह ज्ञान और सदाचार होना चाहिए, यह उल्लेखनीय है कि व्रात्य उस ब्राह्मण को कहा जाता है जो अपने वर्णधर्म का आचरण न करने के कारण पतित हो गया हो। जो अर्थ उत्तम गुण कर्म युक्त ब्राह्मण में संभव है उस अर्थ की सभी जन्मगत ब्राह्मणों में कल्पना करके वक्ता के कथन में दोष लगाना सामान्य छल है।



## निराकरण-

इस छल का निराकरण करने के लिए वक्ता छलवादी से कह सकता है कि मैंने ब्राह्मण मात्र को विद्यायुक्त सदाचारी नहीं बताया अपितु केवल जहाँ विद्या और सदाचरण है उसी व्यक्ति विशेष की प्रशंसा करने के लिए यह कथन व्यक्त किया है। इसलिए ऐसे विशेष प्रकरण से सामान्य अर्थ की कल्पना करना मेरे विचार से पूर्णतः विरुद्ध है। इसलिए सर्वथा अनुचित भी है। उदाहरणत, किसी ने कहा कि “सम्भवन्ति क्षेत्रे सानया” अर्थात् इस क्षेत्र में धान उत्पन्न होने की अच्छी संभावना है। परन्तु इसका आशय यह तो नहीं है कि बीज भी न बोवे और फसल भी हो जाये। अतः ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने मात्र से विद्या सदाचार की उन्नति संभव नहीं है। इस प्रसंग में केवल उसके अनुकूल वातावरण की संभावना को व्यक्त किया गया है।

३- उपचार छल:- शास्त्रकार गौतम मुनिवर के अनुसार-

“धर्मविकल्पनदेशे अर्थ सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।” १-२-१४

अर्थात् न्यायदर्शनकार, गौतम मुनि के अनुसार “धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर उसके अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना ‘उपचार छल’ है। शब्द का अर्थ है अपने वस्तुभूत अर्थ का बोध कराना। शब्द से अर्थ का बोध कहीं अभिधा-शक्ति से कहीं लक्षणा-शक्ति से और कहीं वयन्जना-शक्ति के अनुसार होता है। शब्द के अर्थ-बोध रूप धर्म की यह पद्धति त्रिविध प्रकार की है। यह धर्म विकल्प है। अभिधा-शक्ति से अर्थ बोध कराने पर, लक्षणाशक्ति के आधार से उस अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना तथा लक्षणा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर अभिधा-शक्ति से प्रतिषेध करना। अर्थात् जिस पद्धति से वाक्य प्रयोग हुआ है उससे भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर वक्ता द्वारा कहे गये कथन का प्रतिषेध करना ‘उपचार छल’ है।

उदाहरण स्वरूप, किसी ने किसी से कहा “मन्वान् क्रोशन्ति” मचान चिल्ला रहे हैं। यहाँ वाक्य का लक्षणा-परक अर्थ है परन्तु छलवादी इसका लक्षण-परक अर्थ न लेकर अभिधा परक अर्थ लेकर कह देगा कि मचान कहाँ चिल्ला रहे हैं? आप का कथन मिथ्या है।

‘उपचार’ का तात्पर्य है किसी शब्द के अर्थ को उसके समीप सम्बन्धी आदि पर आरोपित करना। प्रस्तुत प्रसंग में पुरुष पद के अर्थ को मचान से आरोपित कर दिया गया है। जो जैसा नहीं है किन्हीं निमित्तों के आधार पर उसको वैसा बना देना ‘उपचार’ है।

## निराकरण-

वक्ता छलवादी से कह सकता है कि लोक में अभिधा के अलावा लक्षणा और व्यञ्जना मूलक कथन भी प्रचलित हैं, और वे मान्य हैं। इसलिए तर्क संगत यही है कि वक्ता ने जिस पद्धति से कहा है उसी पद्धति के अनुसार उसका अर्थ स्वीकार करना या प्रतिषेध करना। प्रस्तुत प्रसंग में वक्ता ने लक्षणा-पद्धति का प्रयोग किया है। उसका उसी लक्षणा परक अर्थ में ग्रहण करना उचित है। अभिधा परक अर्थ यहाँ सर्वथा अनुचित है इसलिये त्याज्य है।

न्याय दर्शनकार ने आगे इसी प्रसंग में छल के विभिन्न भेदों का भी परीक्षण किया है, जो अलग से विचार का रोचक विषय बन सकता है। इस ओर अध्येयता का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक भी है परन्तु इस निबन्ध के विस्तारमय के कारण छल प्रभेद एवं उनका परीक्षण इस विषय पर विचार नहीं किया जा सका है।

अस्तु, न्याय दर्शन मूलतः मोक्षशास्त्र है अतः छल के उक्त भेद निःश्रेयस को दृष्टिगत रखते हुये किये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु क्या लौकिक अभ्युदय की संसिद्धि के लक्ष्य को सामने रखते हुये छल नामक सम्प्रत्यय के अन्य भेद एवं उपभेद सम्भव है, यह देखना रुचिकर है। परन्तु दर्शन के अध्येयता के नाते यह देखना भी हमारा कर्तव्य है कि वर्तमान एकीकृत होते जा रहे विश्व में, सूचनाक्रान्ति के इस दौर में, जबकि विश्व एटमिक सर्वनाश के डेर पर खड़ा हो, जरा सी भ्रांति मात्र ही, एक बहुत बड़े विनाश का कारण बन सकती है, वहाँ सैद्धान्तिक रूप में छल की स्वीकृति से क्या यह विश्व सुरक्षित रह पायेगा? पुनश्च, आज जबकि बदलती जा रही विश्व परिस्थितियों में सत्य, अहिंसा और सहिष्णुता जैसे उच्च मूल्य मानवीय आचरण के अपरिहार्य मानक बनते जा रहे हैं, ऐसे में, छल को तत्त्व रक्षणार्थ स्वीकार करना हमारे लिये कहाँ तक उचित होगा? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर न्यायदर्शन के अध्येयताओं को चिंतन-मनन करने की आवश्यकता है।

डॉ० सोहनपाल सिंह 'आर्य'  
प्रवक्ता, दर्शन विभाग,  
गु० काँ० वि० वि०, हरिद्वार ।



प्रस्तुत निबन्ध- दर्शन विभाग गु०कां० वि०वि० हरिद्वार के तत्वाधान में आयोजित एवं आई०सी०पी०आर० नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तीन दिवसीय राष्ट्रीय दार्शनिक संगोष्ठी (२१-३० मई ६६) में प्रस्तुत किया गया।

## ऋग्वेद में गत्यर्थक 'इष' धातु के प्रयोग

वैदिक कोष निघण्टु में 'इषति' गत्यर्थक धातुओं में पठित है।<sup>1</sup> इससे ज्ञात होता है कि निघण्टुकार 'इष' धातु को भ्वादिगणी मानकर गत्यर्थ में गृहीत करते हैं। वैयाकरणों में काशकृत्स्न ने 'इष' धातु भ्वादिगण में पठित की है। वहाँ वे इसे उञ्छार्थक मानते हैं। टीकाकार चन्नवीर ने उञ्छ का अर्थ इच्छा और परिचालन किया है।<sup>2</sup> इसके अतिरिक्त काशकृत्स्न, क्षीरस्वामी, मैत्रेयरक्षित, सायण, भट्टोजि सबने गत्यर्थक 'इष गतौ' धातु दिवादिगण में (इष्यति), 'इष आभीक्ष्ये' क्र्यादिगण में (इष्णाति), 'इषु इच्छायाम्' तुदादिगण में (इच्छति) पठित की है। आख्यातचन्द्रिका में 'इष्यति' गत्यर्थक<sup>3</sup> तथा पलायनार्थक<sup>4</sup> धातुओं में पठित है।

यद्यपि निघण्टु में गत्यर्थक धातुओं में 'इषति' (भ्वादिगणी इष धातु) परस्मैपदी पठित है, तथापि ऋग्वेद में इसके प्रयोग बहुत कम हैं। गति अर्थ में अधिकतर 'इष्यति' (दिवादिगणी इष धातु) प्रयुक्त हुई है। इष्णाति (क्र्यादिगणी इष आभीक्ष्ये धातु) और इच्छति (तुदादिगणी इषु इच्छायाम् धातु) के प्रयोग भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन केवल गत्यर्थक 'इष' धातु से है, अतः हम 'इषति' और 'इष्यति' पर ही मन्त्रोद्धरणपूर्वक विचार करेंगे। भ्वादिगणी 'इष' धातु यद्यपि निघण्टु में परस्मैपदी ही पठित है, तथापि वेद में उभयपदी मिलती है।

### इषति, इषते

भ्वादिगणी गत्यर्थक निरुपसर्ग 'इष' धातु ऋग्वेद में केवल छह स्थलों पर प्रयुक्त मिलती है। नीचे उन स्थलों को उद्धृत करते हुए धात्वर्थ की परीक्षा हम कर रहे हैं।

तुभ्यं शुक्रासः शुचयस्तुरण्यवो मदेषूग्रा

इषणन्त भुर्वण्यपामिषन्त भुर्वणि ॥ ऋ० १,१३४,५

देवता वायुः । 'हे वायु, तेजस्वी, पवित्र, शीघ्रगामी, उग्र, मरुद्गण जलों को बरसाने के लिए तुझे प्राप्त होते हैं।' 'इषन्त' रूप गत्यर्थक आत्मनेपदी 'इष' धातु का लङ् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन का है। आट् आगम का अभाव छान्दस है। 'एषन्त' के स्थान पर 'इषन्त' है। वेंकट ने 'इषन्त' का अर्थ किया है 'व्याप्रियन्ते'।<sup>5</sup> सायण 'इषन्त' रूप 'इषु इच्छायाम्' का

मानते हैं<sup>६</sup>। स्वामी दयानन्द ने यहाँ 'इष' धातु प्राप्त्यर्थक मानी है।<sup>७</sup>

यज्ञानां रथ्ये वयं तिग्मजम्भाय वीळवे ।  
स्तोमैरिषेमाग्नये ॥ ऋ० ८, ४४, ७

देवता अग्निः । 'अग्नि के प्रति स्तोमों के द्वारा हम पहुँचते हैं' । एवं परस्मैपदी 'इष' धातु यहाँ गत्यर्थक है। परन्तु वेंकट एवं सायण यहाँ भी 'इषेम' को 'इषु इच्छायाम्' का रूप मानते हैं।<sup>८</sup>

यज्ञासाहं दुव इषेऽग्निम् । ऋ० १०, २०, ७

देवता अग्निः । 'यज्ञासाह् अग्नि के प्रति मैं परिचर्या पहुँचाता हूँ' । यहाँ 'इषे' रूप गत्यर्थक आत्मनेपदी 'इष' धातु का उत्तमपुरुष एकवचन का है। 'इषे' का अर्थ है प्रेरयामि। एवं यहाँ 'इष' धातु गत्यर्थक गृहीत हो सकती है। परन्तु वेंकट एवं सायण यहाँ भी 'इषे' को इच्छार्थक 'इषु' धातु का रूप मानते हैं।<sup>९</sup>

तुविग्राभं तुविकूर्मि रभोदां गातुमिषे  
नक्षते तुम्रमच्छ ॥ ऋ० ६, २२, ५

देवता इन्द्रः । 'बहुतों को सहारा देने वाले, बहुत कर्म करने वाले, गति देने वाले, इन्द्र से मैं मार्ग को प्राप्त करता हूँ' । यहाँ वेंकट एवं सायण दोनों इस धातु को गत्यर्थक गृहीत करते हैं।

'इषे' रूप ऋग्वेद में दो अन्य स्थलों पर भी प्राप्त होता है।<sup>१०</sup> परन्तु वेंकट एवं सायण ने वहाँ 'इष' धातु इच्छार्थक गृहीत की है। परन्तु वहाँ भी गत्यर्थक गृहीत की जा सकती है।

इष्यति

गत्यर्थक दिवादिगणी 'इष' धातु ऋग्वेद में छह स्थलों पर प्रयुक्त हुई है। इसके इष्यति, इष्यसि, इष्यामि और इष्यत रूप मिलते हैं। ये प्रेरणा एवं गमन अर्थों में आती हैं । प्रयोग स्थल निम्नलिखित हैं ।

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठता  
नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥ ऋ० १, १५, ६

देवता द्रविणोदाः । 'हे ऋत्विजो, द्रविणोदा देव ऋतुओं के साथ नेष्टा के पास से सोमरस पीना चाह रहा है, अतः तुम होमस्थल में जाओ (इष्यत), आहुति दो और प्रस्थान

करो'। यह सायणकृत अर्थ है। एवं सायण ने यहाँ 'इष' धातु गमनार्थक मानी है।<sup>१२</sup> स्कन्द भी गत्यर्थक ही गृहीत करते हैं।<sup>१३</sup> वेंकट ने 'इष्यत' का अर्थ किया है 'यज्ञ करने की इच्छा करो'<sup>१४</sup>। स्वामी दयानन्द यहाँ 'इष' धातु को विज्ञानार्थक लेते हैं।<sup>१५</sup>

नासत्या गच्छतं ह्ययते हविर्मध्वः पिवतं मधुपेभिरासभिः ।

युवोर्हि पूर्वं सविताषसो रथमृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥ ऋ० १,३४,१०

देवता अश्विनौ । 'हे अश्विदेवो, तुम्हारे चित्र-विचित्र घृतयुक्त रथ को उषा से पूर्व सविता यज्ञ के लिए प्रेरित कर रहा है (इष्यति)' । यह सायणीय अर्थ है। एवं सायण ने यहाँ इष धातु प्रेरणार्थक गृहीत की है।<sup>१६</sup> वेंकट वैकल्पिक अर्थ देते हुए धातु को इच्छार्थक तथा प्रेरणार्थक लेते हैं।<sup>१७</sup> स्कन्द 'इषु इच्छायाम्' से व्यत्यय द्वारा श्यन् करते हैं और 'इष्यति' का अर्थ करते हैं 'चाहता है' अथवा 'चाहा'<sup>१८</sup>। स्वामी दयानन्द धातु को गमनार्थक ग्रहण करते हैं।<sup>१९</sup>

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपहरे नद्यो अंशुमत्याः ।

नमो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ऋ० ८,६६,१४

देवता इन्द्रः । इन्द्र मरुतों को कह रहा है। 'हे मरुतो, मैंने द्रुतगामी कृष्णासुर को विषुमती नदी के उपर में विषम स्थान में विचरता हुआ देखा है। मैं तुम्हें प्रेरित कर रहा हूँ (इष्यामि) संग्राम में जाओ और युद्ध करो'। एवं यहाँ 'इष' धातु प्रेरणार्थक ही प्रतीत होती है। परन्तु वेंकट<sup>२०</sup> एवं सायण<sup>२१</sup> दोनों ने बलात् इच्छार्थक गृहीत की है।

प्र धारा अस्य शुष्मिणो वृषा पवित्रे अक्षरन् ।

पुनानो वाचमिष्यति ॥ ऋ० ६,३०,१

देवता सोमः । 'इस बलवान् सोम की धाराएँ दशापवित्र में अनायास क्षरित हो रही हैं। पवित्र करने वाला यह सोम वाणी को प्रेरित कर रहा है (इष्यति)' । वेंकट<sup>२२</sup> एवं सायण<sup>२३</sup> दोनों ने यहाँ धातु का अर्थ प्रेरणा ही गृहीत किया है।

हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि ।

अक्रान् देवो न सूर्यः ॥ ऋ० ६,६४,६

देवता सोमः । 'हे पवमान सोम, विधारक दशापवित्र में डाला जाता हुआ तू वाणी को प्रेरित करता है (इष्यसि)' । वेंकट<sup>२४</sup> एवं सायण<sup>२५</sup> धात्वर्थ प्रेरणा ही गृहीत करते हैं।

त्वं सोम विपश्चित पुनानो वाचमिष्यसि ।

इन्दो सहस्रभर्णसम् ॥ ऋ० ६,६४,२५

देवता सोमः । 'हे सोम, पवित्र करता हुआ तू प्रज्ञायुक्त वाणी को प्रेरित कर रहा है (इष्यसि)' । वेंकट<sup>२६</sup> एवं सायण<sup>२७</sup> यहाँ भी धात्वर्थ प्रेरणा ही गृहीत करते हैं।

**निष्कर्ष**

यहाँ हमने भ्वादिगणी तथा दिवादिगणी दोनों 'इष' धातुओं के ऋग्वेद के प्रयोगस्थलों की परीक्षा की है। उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों ही धातुएँ प्रेरणा, व्याप्ति एवं गति अर्थों में प्रयुक्त हुई हैं। जिन भाष्यकारों ने इन्हें 'इषु इच्छायाम्' का छान्दस रूप माना है, उनका वह प्रयास चिन्त्य प्रतीत होता है, यतः इन स्थलों में प्रेरणा, व्याप्ति या गमन अर्थ चरितार्थ हो जाते हैं।

गत्यर्थक 'इष' धातु से सम्पन्न इष (अन्न), इषु (बाण), इषुधि (तरकस), इषुका (बाण), इषीका (शरकण्डिका), इष्टका (ईंट) आदि शब्द वेदों में प्रयुक्त हुए हैं।

- डॉ० सत्यदेव निगमालंकार

वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०

हरिद्वार



-: सन्दर्भ संकेत -:

१- निघ० २, १४

२- इष ईष उञ्छे/भ्वादि २६१, इषति, इच्छायां परिचालने परिचालयति ।

३- चरति धञ्जति श्वत्यण्टते ग्लुञ्चतीष्यति । गतौ, ॥१००८,

४- इष्यति नश्यति पलायतेऽन्तर्धन्त इत्यपि । पलायने ॥१०२३,

५- उग्राः मरुतः अपाम् वृष्टिलक्षणानां भरणे व्याप्रियन्ते ।

६- किंच अपां भूर्वाणि मेघे इषन्त उदकमिच्छन्ति उत्पादयितुम् । यद्वा यजमानाः त्वामुद्दिश्य आजुह्वना अथा  
वर्षणं इषन्त इच्छन्ति ।

७- इषन्त प्राप्नुवन्तु ।

- ८- स्तोमैः अन्नं कर्तुमिच्छेम अग्नये ॥वैक०,  
अग्नये स्तोमैः स्तोत्रैः वयम् आङ्गिरसाः इषेम स्तुतिं कर्तुमिच्छेम ॥सा०
- ९- महत्त्वा यज्ञस्य अभिभवितृधनम् इच्छामि ॥वैक०  
तमग्निमभिलक्ष्य दुवः परिचरणम् इषे इच्छामि ॥सा०
- १०- वेपनशीला उच्यमाना स्तुतिः यस्य स्तोतृभिः क्षिप्रम् अभिगच्छतीति ॥वैक०  
स यजमानः गातुं सुखम् इषे गच्छति -सा०
- ११- स्वऽर्ण चित्रतममिष आ गोः ॥४,२३,६  
महःसु वो अरमिषे स्तवामहे ॥८,४६,१७
- १२- इष्यत होमस्थाने गच्छत ॥
- १३- ऋतुभिः ऋतुभिः सह इष्यत । इषु गतौ । गच्छत। मा विलम्बध्वमित्यर्थः ॥
- १४- ऋतुभिः सह यष्टुमिच्छत ॥
- १५- ऋतुभिः वसन्तादिभिर्योगे इष्यत विजानीत ॥
- १६- इष्यति हि प्रेरयति खलु ॥
- १७- सविता दिवस्करणाय इच्छति प्रेरयति वेति ॥
- १८- इष्यति इच्छतेरयं व्यत्ययेन श्यन् । इच्छति । यस्मात् यजमानः युष्मदीयम् औषसं च रथं पूर्वमिच्छति  
तस्मादागच्छतमित्यर्थः । अथवा- इष्यतीत्यपि भूतकाले लट् व्यत्ययेन द्रष्टव्यः । इष्यति इष्टवान्  
प्रार्थितवान् ॥
- १९- गच्छति ॥
- २०- दृष्टे च सत्यस्मिन् युद्धार्थं युष्मान् इच्छामि ॥
- २१- हे वृषणः कामानामुदकानां वा सेक्तारो मरुतः वः युष्मान् युद्धार्थम् इष्यामि अहमिच्छामि ॥
- २२- पूयमानः वाचं प्रेरयति ॥
- २३- तदानीं पुनानः पूयमानः सोमः वाचं स्तुतिं स्वीयं ध्वनिं वा इष्यति प्रेरयति ॥
- २४- प्रेर्यमाणः वाचम् प्रेरयसि ॥
- २५- हे पवमान सोम हिन्वानः प्रेर्यमाणस्त्वं वाचं शब्दम् इष्यसि प्रेरयसि ॥
- २६- वाचम् प्रेरयसि ॥
- २७- वाचम् इष्यसि प्रेरयसि ॥



## बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की राष्ट्रीय चेतना

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म मध्यप्रदेश में सुजालपुर तहसील के भयाना गाँव में ८ दिसम्बर १८९१ को हुआ था और २६ अप्रैल १९६० को उनका निधन हुआ। इन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया। आजादी की लड़ाई में नौ बार जेल गए तथा सांसद भी रहे। इनका जन्म पूर्णिमा के दिन होने पर भी जीवन भर कष्टों से संघर्ष करते रहे- बचपन में गरीबी से, जवानी में देश की गुलामी से तथा जीवन के अन्तिम समय में बीमारी से। परन्तु ये बड़े ही साहसी और जीवट के व्यक्ति थे। ये सदा हँसमुख और आशावादी रहे। त्याग और बलिदान इन्हें पिता से मिला तो भक्ति और प्रेम माँ से। ये स्पष्ट वक्ता थे। साहित्यिक रुचि इनमें सरस्वती पत्रिका से और देशभक्ति उस समय के साप्ताहिक पत्रों से पैदा हुई। दिनकर जी ने लिखा है कि वे अज्ञातशत्रु थे तथा वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार- 'मित्रों के लिए वे गंगाजल थे'। उनमें देशभक्ति की भावना 'प्रताप' के संपादक, गणेशशंकर विद्यार्थी ने जागृत की। वे आजीवन विद्यार्थी जी के भक्त रहे और उन पर 'प्राणार्पण' लिखा।

नवीन जी की रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं, साप्ताहिकों, मासिकों में यत्र तत्र इधर-उधर छपती रहीं। पुस्तकाकार रूप में उनका पहला काव्य संकलन १९३६ में 'कुंकुभ' नाम से छपा। इसके १२ वर्षों बाद 'रश्मिरेखा' और 'अपलक' संग्रह तथा १९५२ में 'क्वासि' एवं मृत्यु से पूर्व स्फुटकविता 'विनोवा स्तवन' और एक प्रबंधकाव्य 'उर्मिला' तथा बाद में 'प्राणार्पण' एवं 'हम विषपायी जनम के' कुल आठ रचनाएं छप पाईं। साहित्यिक जीवन में नवीन जी सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी थे। वे समझौता नहीं कर सकते थे। राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभाषा प्रेम, राष्ट्रीय संस्कृति प्रेम का उनके जीवन में सबसे बड़ा मूल्य था। वे अपने युग की राष्ट्रीय कविता से अधिक प्रेरणा पाते रहे। इनकी कविता में भावोत्थान का एक निश्चित क्रम है-सबसे अधिक वीर, फिर करुण और फिर श्रृंगार और इसी क्रम में उनका जीवन क्रम-भी सर्वाधिक समय देशभक्ति के संग्राम में, फिर समाजसेवा एवं समाज की विषमताओं को दूर करने में और सबसे कम गृहस्थ या व्यक्तिगत प्रेम में बीता।

कवि जिन परिस्थितियों को झेलता है उन्हीं का चित्रण वह अपनी कविता में करता है। राष्ट्रीय चेतना उसे कहते हैं जिसमें राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता एवं



अखण्डता को स्थिर रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिसमें मातृभूमि के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास, गौरवपूर्ण संस्कृति के प्रति तीव्रानुराग, राष्ट्रविरोधी शक्तियों एवं शत्रुओं के प्रति तीव्र आक्रोश तथा शोभ और राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के प्रति जन सामान्य के हृदय में तीव्र ज्वाला उत्पन्न करने की शक्ति एवं सम्पूर्ण मानवता के उत्थान की अभिलाषा निहित हो ।

चेतना का शाब्दिक अर्थ है-होश, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, बोध या विस्तार। राष्ट्रीय चेतना में यह बोध या विस्तार के अर्थ में आता है जिसका अर्थ है- राष्ट्र सम्बन्धी चेतना या बोध अथवा दृष्टि । यह चिन्तन का वह स्वरूप है जिसके केन्द्र में सम्पूर्ण राष्ट्र होता है। राष्ट्रीय चेतना का उद्देश्य-राष्ट्र की स्थिति का निष्पक्ष मूल्यांकन करके उसकी वास्तविकता को बताना होता है।

कविता विचारों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय चेतना रचना के मूल कारण को प्रभावित करती है जिससे कवि को अपनी कृति समाज के सामने लाने में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना का विकास करना होता है। इसके पश्चात वह अपनी चेतना को काव्य के माध्यम से दूसरों तक पहुंचाने की योजना तैयार करता है और तब कोई कविता निर्मित हो पाती है अर्थात् विभिन्न स्रोतों से प्राप्त अनुभवों एवं संवेदनाओं के आधार पर प्राप्त चेतना परिपक्व होकर कवि के कविता का मूल आधार बनती है। साहित्य सृजन-

१. समस्याओं का यथार्थ चित्र पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना ।
२. समस्याओं के समाधान की दिशा दिखाना तथा
३. पाठक को कर्म की दिशा निर्देश देना-की दृष्टि से किया जाता है ।

साहित्य व्यक्ति को स्वतंत्रता और रूढ़ियों से समाज को मुक्ति की दिशा दिखाता है। यह मुक्ति नवीन मूल्यों एवं नवनिर्माण की ओर ले जाती है। इसीलिए साहित्य में हर प्रकार के शोषण का विरोध रहता है।

राष्ट्रीयता मानव की तीव्रतम भावनाओं में से एक है। सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास तथा सामूहिक आत्मसम्मान की भावना ही राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति का अनुराग स्वाभाविक है। सामूहिक चेतना जन्य इस भावना की तीव्रता और सघनता को सबने स्वीकारा है। राष्ट्रीयता का स्वरूप सदैव एक सा नहीं रहा है। वीरगाथा कालीन राष्ट्रीय भावना अत्यंत संकुचित थी। इस काल में छोटे-छोटे राज्यों को ही राष्ट्र मानकर उनके प्रति अनुराग प्रदर्शित किया गया है तथा चारणों एवं भाटों द्वारा अपने-अपने आश्रयदाताओं की अभ्यर्थना में लिखा गया है। जहाँ कहीं राष्ट्रीयता कुछ विकसित हुई है वहाँ उसका साम्प्रदायिक अथवा

धार्मिक रूप सामने आया है। मध्यकाल तक राष्ट्रीयता का यही संकीर्ण स्वरूप बना रहा। रीतिकाल में भी सम्पूर्ण भारत का एक इकाई के रूप में राष्ट्रीयता का उन्मेष नहीं हुआ। १८५७ की स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात ही राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हो पाया है जिसमें साम्प्रदायिकता नहीं थी। इस समय राष्ट्रीयता का ऐसा संस्कारित रूप सामने आया जिसमें राष्ट्रीय भावना में सांस्कृतिक मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों का समावेश हुआ ।

प्रत्येक कदम पर बंधन, अवरोध, अपमान, अत्याचार और दमन से संवेदनशील व्यक्ति बौखला उठता है। चरमबिन्दु तक पहुँची बौखलाहट ही कवि के स्वर्गों में फूट पड़ती है और वह शताब्दियों से सुषुप्त भारतवासियों को मोहनिद्रा से जगाने का प्रयत्न करता है। विदेशी शासकों के अन्याय, अत्याचार, दमन और आतंक से इस युग का कवि न तो स्वयं हताश हुआ और न देशवासियों को हतोत्साहित होने दिया है। काले कानून और हत्याकांड भी भारतीय कवियों को लक्ष्य भ्रष्ट नहीं कर सके और इन्होंने इस स्थिति से जनता को विचलित न होने दिया। यद्यपि कवियों की लेखनी पर नियंत्रण था फिर भी उन्होंने जागृत के गीत गाकर देशवासियों को कर्तव्य पालन के लिए प्रेरित किया। नवीन जी ने हम विषपायी जनम के में लिखा है-

जब जग विचलित होता दीखे, जब सब छोड़े संग अहो,  
जब दुनियादारों की होवे धीमी हृदय उमंग अहो,  
जबकि पड़े जय जय की ध्वनि का कुछ कुछ फीका रंग अहो,  
तब तुम अरे युवक, मत डोलो, पथ पर डटे अभंग रहो ।

(हम विषपायी जनम के)

इस युग की वीर भावना मध्ययुगीन वीर भावना के विपरीत है। इस युग की कविता में सत्य और अहिंसा का, न्यायसंगत कर्म और शीशदान की महिमा का गान हुआ है। नवीन जी स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि विजय सदैव त्याग और बलिदान चाहती है। जो जीवन की सम्पूर्ण आशाएं और आकांक्षाएं तथा यौवन समर्पित करने को प्रस्तुत होता है वहीं शताब्दियों की दासता के बंधनों को काटने में समर्थ हो सकता है-

है बलिवेदी सखे, मांग रही ईंधन क्षण-क्षण,  
आओ युवक लगा दो तुम अपने यौवन का ईंधन  
भस्मसात हो जाने दो ये प्रबल उमंगे जीवन की  
अरे सुलगने दो बलि वेदी, चढ़ने दो बलि यौवन की।

नवीन जी की १९२१ तक लिखी प्रारम्भिक कविताओं में अध्यात्म, राष्ट्रीयता, प्रकृति

प्रेम सब एकाकार हो गये हैं। उनकी कविता में राष्ट्रीयता सांस्कृतिक प्राचीन भक्ति सूत्रों से मिल जाती है। 'प्रताप' में 'कुली के चरणों में' कविता में उन्होंने लिखा-

न हो विकल ऐ कुली, टिकट मारीशस का हम ले देंगे  
अथवा किसी क्रूर जेल की, ट्रंक उठाने भेजेंगे ।

यह व्यंग्य ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा मजदूरों पर अत्याचार ढाने वाले गोरों पर है। 'गिरमिटिहा' कहकर भारत के भोले भाले भोजपुरी भाषी गरीब जहाजों में भर भरकर खेतों में काम करने के लिए विदेश भेजे जा रहे थे। उन्हें मारीशस का टिकट दिया जा रहा था और मना करने वालों को जेल भेजा जा रहा था। यह उसी कुली प्रथा पर तमाचा है। जो कवि कोमल भावनाओं का वर्णन कर रहा था, वहीं बाहरी अन्यायों के प्रति कितना सजग था, तेइस वर्ष आयु के नौजवान की यह राजनैतिक व्यापक दृष्टि महत्वपूर्ण है। नवीन जी के लेखन के पीछे पूरे राष्ट्र की वेदना स्फुरित होती है, जिसे अपने अधिकारों से वंचित रखा गया है -

हम संक्रान्तिकाल के प्राणी, बढ़ा नहीं सुख भोग  
घर उजाड़कर जेल बसाने का, हमको है रोग ।

नवीन जी के सबसे बड़े आराध्य महात्मा गांधी थे। उनकी देशभक्ति जीवन और अध्ययन से बढ़ती गई। आरंभ में 'प्रभा' और 'प्रताप' के लेख ने उनमें देश के प्रति समर्पित होने के भाव जगाए तो लोकमान्य तिलक के लेख ने क्रान्ति की ओर आकर्षित किया। अपने जेल के समय में उन्होंने अन्य नेताओं के लेख पढ़े। कवि भी एक स्वतंत्र विचारक होता है अतएव बलिदान, निश्शस्त्र असहयोग आदि विचारों के साथ ही क्रान्ति का उल्लेख भी नवीन जी में आया है। उन्होंने 'प्रलयंकर' में क्रान्ति का स्वागत करते हुए लिखा है-

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए,  
एक हिलोर उधर से आए, एक हिलोर उधर को जाए ।

लेकिन यह उनकी राष्ट्रीय कविता का मूल स्वर नहीं है अपितु उसमें त्याग, कष्ट सहन, बलिदान की भावना की प्रमुखता है। पराधीन भारतीयों के मन से हीन भावना का निराकरण कर गौरव की भावना की प्रतिष्ठा करने में नवीन जी का भी हाथ है जिन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से गौरवमंडित अतीत की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। तत्कालीन समाज में फैली हुई अनेक विषमताओं की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। इन्होंने अशिक्षा, विधवा क्लेश, खड्गिवादिता, अस्पृश्यता, नैतिक पतन, अन्याय और साम्प्रदायिकता आदि के चित्र उपस्थित किए हैं। प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने अपनी कविताओं में स्वर्णिम भविष्य की कामना की है और सुंदर तथा सुखद भविष्य का निर्माण किया है और यह कल्पना की है कि वह कितना सुन्दर

और सुख शांति पूर्ण समय होगा जब पराधीनता के बंधन कट जायेंगे। नवीन जी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता असंकीर्ण तथा उदार है। पराधीनतापाश और स्वदेशमुक्ति का लक्ष्य होने पर भी यह वैमनस्यपूर्ण तथा अन्तर्राष्ट्रीयता विरोधी नहीं है। उन्होंने काव्य 'उर्मिला' में भारत कल्याण को विश्व कल्याण के रूप में देखा है -

देश विदेश संकुचित जन का, है अनुचित संकुचित विचार,  
 है मनीषियों का स्वदेश वह, जहाँ सत्यशिव का विस्तार,  
 हैं जग के नागरिक सभी हम, सब जग भर यह अपना है,  
 सीमित देश विदेश कल्पना मिथ्या भ्रम का सपना है । - (उर्मिला)

राष्ट्रभक्ति की भावना नवीन जी की काव्य रचना में बराबर बदलती गई। उनमें क्रांति के समर्थक और शांति के प्रचारक के रूप में राष्ट्रभक्ति की कई सीढ़ियाँ मिलती हैं। 'प्रलयंकर' में क्रान्ति के कई गीत हैं। पराजय गीत का आरंभ होता है-

आज खड़ग की धार कुंठिता है खाली तूणीर हुआ,  
 विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य भ्रष्ट यह तीर हुआ।

इनके राष्ट्रीय गीतों में भारतमाता की वंदना, महापुरुषों एवं त्यागी राष्ट्रसेवी नारियों की प्रशस्तियाँ भी अपना अलग स्थान रखती हैं। इनकी राष्ट्रीयता संकीर्ण या संकुचित नहीं थी और न किसी प्रदेश, भाषा, जाति, धर्म या अन्य राष्ट्र का विद्वेष ही उनमें है। उनकी राष्ट्रीयता में किसी का विरोध था तो शोषकों का । वे मजदूरों के मसीहा थे । उनका विश्वास था भारत की राष्ट्रीयता, भारत की राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान विदेश से आयातित विचारों से नहीं होगा। उसे तो यहीं की मिट्टी और गंध में ढूँढना होगा । वे क्रान्ति के नाम पर हिंसा करने वालों के विरोधी थे। उन्होंने अपनी कविता में भक्ति को देशभक्ति तक पहुँचाया है । व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों में व्याप्त उलझाव को उन्होंने सुलझाने की कोशिश की । हिंसा पर अहिंसा की विजय का गुणगान किया और अपने युग के श्रेष्ठ विचारों को सरल भाषा में लिखा । उनकी कविता का अधिक अंश राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता के लिए संग्राम के स्वर से भरा हुआ है। समाज में व्याप्त कुरीतियों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। 'क्वासि' की भूमिका में लिखा- 'पूँजीवादी समाज में मनुष्य क्रीतदास बन जाता है'। उनकी कविता राष्ट्रीय जीवन के संघर्ष से जुड़ी हुई है। वे मजदूरों के नेता थे, उनकी प्रेरणा से लिखा है -

सुन लो गर, तुममे हिम्मत है, नंगे भूखों का यह गाना,  
 अब तक के रोने वालों का, यह विकट तरान मस्ताना।

जिनको तुम कीड़ा समझे थे, वे तो यारों निकले मानव,  
जो रेंगा करते थे अब तक, वे आज कर उठे हैं तांडव ॥

प्रलयंकर में 'धन्य सभी रूसी जनगण' कविता में उन्होंने फासिस्टों के विरुद्ध लिखा। कारागृह जीवन की झांकी उनके उन गीतों में दृष्टिगत होती है जहाँ वसंत, होली, दीवाली, राखी आदि त्यौहारों के समय अभिभूत होकर अपनी मजबूरी पर लिखते हैं। रश्मिरेखा में 'आज है होली का त्यौहार' कविता में लिखा है -

उनकी क्या होली, दीवाली उनका क्या त्यौहार,  
जिसने निज मस्तक पर ओढ़ा, जन विप्लव का भार ।

अपनी रचनाओं में उन्होंने देश के गौरवमय अतीत एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के सुखद भविष्य पर, विश्वप्रेम पर और स्वतंत्रता संग्राम की विभूतियों पर बहुत ही भावना पूर्ण होकर लिखा है। उनकी आरंभिक कविताएं भावावेशमय हैं और बाद की चिंतन प्रधान। उग्र के साथ-साथ कविता भी विचारात्मक प्रौढ़ता में बदलती गई है। अकेलापन, अनिकेतनता उनके जीवन का आधार रहा और देशभक्ति एक मात्र प्रेरणा। उनका हठ था-गुलाम भारत में शादी नहीं करूंगा, भारत को गुलाम संतान की भेंट नहीं दूंगा और उन्होंने इसका निर्वाह किया।

नवीन जी ने क्रांति के उन प्रलयंकारी भैरव स्वरो का आह्वान किया है जिनसे जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियाँ एवं परम्पराएं विलीन हो जाती हैं। उनकी वाणी में संगीत, उल्लास, विद्रोह, नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा का वेग है तथा साथ ही राष्ट्रीय जागृति की प्रभाती ध्वनि, करुणा का राग, आशा और उत्तरदायित्व के मनोरम स्मृति चिह्न और मानव जीवन के उदात्त पहलू जो विस्मृत गौरव की पुनरावृत्ति का पथ प्रदर्शन करते हैं और मानवता की विजय का संदेश है। उनके काव्य में भारत भक्ति है तो विश्व मानवता का बोध भी है, अतीत के प्रति अनुराग है तो वर्तमान की चुनौतियां और भविष्य की आशाएं हैं मानव की उद्दाम जिजीविषा, उसका अमोघ संकल्प और अविरत कर्मरत चरण हैं तो आतातायियों के प्रतिकार के लिए क्रान्ति के लिए उद्यत उदात्त भावनाएं, शोषितों और दीन दलित मजदूरों को सचेत एवं जागृत बनाने की अभिलाषा भी है। उन्होंने मानवता के शाश्वत कल्याण के लिए वांछनीय आवश्यकताओं को काव्य के सरस, आकर्षक परिधान में प्रस्तुत करके जनग्राह्य बनाया है।

- डॉ० भगवान देव पाण्डेय

रीडर, हिन्दी विभाग,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार



## ‘गुरुकुल-पत्रिका’ ने गुरुकुल का वर्तस्व बढ़ाया

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी की इस ‘श्रद्धानगरी’ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का इतिहास लिखते हुए गुरुकुल की आन्तरिक गतिविधियों का इतिहास यदि नहीं मालूम तो हम ‘गुरुकुल-पत्रिका’ के स्वरूप को, उसकी पहचान को भी नहीं जान सकते। ‘गुरुकुल-पत्रिका’ का जन्म १९४८ ई० में हुआ। वहीं इससे पूर्व गुरुकुल में विविध सभाओं व पत्रों के द्वारा एक ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिसने आगे चलकर एक विशिष्ट साहित्यिक चेतना का ही निर्माण नहीं किया अपितु सभी स्तरों पर उन्नति के चरम बिन्दुओं को चूमा।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि गुरुकुल का वातावरण बना नहीं बल्कि बनाया गया था। उस वातावरण को बनाने में जहाँ ब्रह्मचारियों ने रुचि ली और उसमें अपना तन-मन लगाया वहीं कुल के गुरुजनों ने अपने निष्काम चरित्र के द्वारा, अपने ज्ञान-कोष के द्वारा प्रेरणा और परिष्कार देकर ऊँचा उठाया। इसलिए गुरुकुल में आर्य भाषा (हिन्दी), अंग्रेजी व संस्कृत की त्रिवेणी बहती थी। इस ज्ञान-गंगा में जो नहाया वही कुन्दन हो गया, स्वर्ण हो गया। इसी से गुरुकुल गौरवान्वित हुआ और अब शताब्दी वर्ष में प्रवेश करने जा रहा है।

हम चाहे विद्यालय-स्तर की बात करें या महाविद्यालय स्तर की। गुरुकुल में धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक व क्रीडात्मक गतिविधियों का महत्वपूर्ण स्फुरण रहा है। साहित्य-संगोष्ठी, बालसभा, पार्लियामेन्ट आदि सभायें उस समय के छात्रों में नवीन गतिविधियों का संचार करती थीं। सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकायें गुरुकुल के पुस्तकालय या वाचनालय में आती थीं। विद्यालय-विभाग में तो आश्रम में ही वाचनालय था। जिसमें मध्याह्न के भोजनोपरान्त बड़े ब्र० पत्र पत्रिकायें पढ़ते थे। प्रताप, नव-जीवन, आर्य, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग, बालसखा, चन्दामामा, हिन्दुस्तान टाइम्स, वीर अर्जुन, नवभारत टाइम्स आदि पत्र आते थे। विद्यालय-विभाग में तो अब भी यत्किंचिद् वह परम्परा चल रही है। विश्वविद्यालय स्तर पर तो विशाल पुस्तकालय और वाचनालय छात्रों को उपलब्ध है। फिर भी अस्तु! उस समय सभी सभाओं के मन्त्री हुआ करते थे। यहाँ तक कि कुलीय स्तर पर ‘कुलमन्त्री’ भी होता था। जिसके ऊपर गुरुकुल के मुख्य-मुख्य उत्सवों पर विविध क्रिया कलापों के आयोजन करने का उत्तरदायित्व होता था।

गुरुकुल में अपना 'प्रिंटिंग प्रेस' होते हुए भी विद्यालय व महाविद्यालय स्तर पर ब्रह्मचारी लेख, गल्प, कविता, कहानी आदि लिखते थे। हस्तलिखित पत्रिकाओं का सम्पादन होता था। लेख के लेखक और मेरे मित्र स्व० जगन्नाथ विद्यालंकार ने अपने विद्यालय और महाविद्यालय जीवन में यह कार्य किया था। विद्यालय में दीवाली या विजयादशमी के अवसर पर 'विजया', 'चन्द्रिका' आदि हस्तलिखित पत्रिकाओं का सम्पादन होता था। महाविद्यालय (कालेज) में तो अनेक सभायें थी, जो अपने 'पत्र' निकालती थी। उस समय की हस्तलिखित पत्रिकाओं का दर्शन आप विश्वविद्यालय पुस्तकालय में पुस्तकालयाध्यक्ष की अनुमति से कर सकते हैं। इस प्रकार उस समय छात्रों में नयी-नयी साहित्यिक व सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित होती थी। साप्ताहिक सभायें उनके इन प्रयासों को मूर्त रूप देती थी। हस्तलिखित पत्र-पत्रिकायें उन्हें नयी-नयी बातें लिखने को प्रेरित करती थी। गुरुजन सदा मोत्साहित करते थे। ब्रह्मचारी भी गुरुओं को सादर बुलाकर गोष्ठियों में सभापतित्व कराते थे। गुरुजन उनकी कमियों को नोट कर उन्हें बताते और अच्छा लिखने व बोलने को प्रेरित करते थे। विविध गोष्ठियों में राजनैतिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर चर्चायें होती थी। निबन्ध, कविता, गल्प व लेख पढ़े जाते थे। समस्या-पूर्तियाँ की जाती थी। महाविद्यालयाश्रम (टेकचन्द नागिया हॉस्टल) के वर्तमान रामदेव सभा-भवन अर्थात् उस समय की ड्योढी पर हर सप्ताह कोई न कोई कार्यक्रम होता ही रहता था। जिससे ब्रह्मचारी व कुलवासी प्रेरित होते थे।

अब हम गुरुकुल के उस सामाजिक और साहित्यिक स्वरूप का वर्णन करेंगे जो अन्दर ही अन्दर छात्रों में विविध गतिविधियों का संचार करता था। और जिसके कारण गुरुकुल ने बाह्य-जगत को बड़े-बड़े होनहार साहित्यकार लेखक व सम्पादक ही नहीं अपितु उच्च कोटि के विद्वान् एवं वाग्मी स्नातक दिए। जिनके लेख आदि गुरुकुल-पत्रिका में बड़े चाव से पढ़े जाते थे। गुरुकुल की इन्हीं आन्तरिक हलचलों ने 'गुरुकुल-पत्रिका' को जन्म दिया।

गुरुकुल की विद्यालय एवं महाविद्यालय स्तर की उन सृजनात्मक गतिविधियों का हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं। आओ, चलो आज से ६०-७० वर्ष पूर्व के गुरुकुलीय इतिहास में लौट चलें :-

१- साहित्य-परिषद् :- महाविद्यालय-आश्रम की यह एक बहुत पुरानी सभा थी। जिसकी स्थापना २६ ज्येष्ठ १९६५ विक्रमी में हुई थी। इस सभा का मुख्य उद्देश्य हिन्दी-संसार में स्थिर साहित्य उत्पन्न करना था। इसमें कोई शक नहीं कि इस सभा में पढ़े गए लेख और पुस्तकें हिन्दी संसार में प्रसिद्ध हुई।

२— **पार्लियामेन्ट** :- साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त सा०प० की ओर से कई विशेषाधिवेशन होते थे । इनमें सबसे प्रथम 'पार्लियामेन्ट' था । जिसका उद्देश्य ब्रह्मचारियों को शासन-विधान सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कराना था । यही कारण है कि गुरुकुल के कई स्नातक भारत की संसद और विधायिकाओं के सदस्य बने । जिनमें सर्वश्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, अमरनाथ विद्यालंकार, पूर्णचन्द्र, दीनदयालु शास्त्री तथा विनायकराव विद्यालंकार का नाम आदर से लिया जा सकता है ।

३— **सरस्वती सम्मेलन** :- साहित्य-परिषद् सभा की ओर से होने वाला यह दूसरा विशेष अधिवेशन 'सरस्वती सम्मेलन' था । यह प्रतिवर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर किया जाता था । इस अधिवेशन का आयोजन कुछ वर्षों से ही बन्द हुआ है । इसमें गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध एवं विविध रचनायें पढ़ी जाती थी । जिससे उत्सव पर आने वाले दर्शकों को यहाँ के ब्रह्मचारियों की प्रतिभाओं का ज्ञान होता था ।

४— **वाग्वार्धिनी सभा** :- महाविद्यालय के सामाजिक जीवन को बनाये रखने में इस सभा का विशेष हाथ रहा । इस सभा के क्रिया-कलाप १९६६-६८ ई० तक हमारी दृष्टि में आते रहे । इस सभा की स्थापना १ पौष सम्वत् १९६६ तद्नुसार १५ दिसम्बर १९१२ ई० को हुई थी । इस सभा का मुख्य उद्देश्य गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक स्थिति के ज्ञान के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति का भी ज्ञान कराना था । इस सभा के साधारण अधिवेशन हर शनिवार को होते थे । इस सभा ने ही गुरुकुल को बड़े-बड़े वाक्शूर इन्द्र जी, चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार, सत्यपाल जी सिद्धान्तालंकार, बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड (समर्पणानन्द जी), क्षितीश जी वेदालंकार, धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड पश्चाद् जयपाल जी, प्रशान्त जी, विश्वबन्धु जी, जयदेव जी, विश्ववर्द्धन आदि वाग्मी दिए ।

इस सभा की ओर से प्रतिवर्ष 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कवितागल्प-सम्मेलन, कांग्रेस और असेम्बली अधिवेशन होते थे । उत्सवों पर हिन्दी साहित्य सम्मेलनों और कविता-गल्प-सम्मेलनों का आयोजन तो बहुत ही उत्कृष्ट होता था । इस सभा की ओर से 'श्रद्धानन्द-बलिदान-सप्ताह' के अन्तर्गत किए गए 'शाहजहाँ, अकबर, पृथ्वीराज की आँखें, वीर दुर्गादास राठौर आदि नाटक तो आज भी आँखों के आगे साकार हो उठते हैं । इन सम्मेलनों में उस समय के उच्च कोटि के साहित्यकार, हिन्दी सेवी, कवि तथा संगीतज्ञ आमन्त्रित किए जाते थे । कवियों में पं० नाथूराम शंकर शर्मा, प्रकाशचन्द्र कविरत्न, बुद्धदेव जी विद्यामार्तण्ड, राधेश्याम जी कथावाचक, प्रियहंस, देवराज 'दिनेश' आकर अपनी रचनाओं से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करते थे । ब्रह्मचारियों के हृदयों और लेखनी



पर इनकी छाप पड़ती ही थी। सेठ गोविन्द दास जैसे हिन्दी के पक्षधर तो सदा ही इस सम्मेलन में आते थे। किन्तु बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इन्द्र जी के कुलपतित्वकाल में वर्तमान प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी झूम-झूम कर अपना भाषण देकर इस सम्मेलन को सुशोभित कर चुके हैं। गुरुकुल के 'वेदमन्दिर' में जिस समय इस सभा की ओर से राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपना काव्य पाठ किया था तो सभी उस ओजस्वी वाणी को सुन रोमाञ्चित हो गये थे। यही कारण है कि इन सम्मेलनों ने भी गुरुकुल से बड़े-बड़े लेखक व कवि साहित्य को दिए।

**वाग्वर्धिनी सभा का मुख्यपत्र :-** 'राजहंस' इस सभा का मुख्य पत्र था। यह पहले हस्तलिखित पाक्षिक रूप से निकलता था। जिसमें राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज विज्ञान पर बड़े गम्भीर और उत्तम लेख होते थे। फिर यह पत्र १९६०-६२ ई० में आते-आते मासिक हो गया। इसका प्रमुख वाक्य था-

जड़-चेतन गुन-दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार ।

सन्त-हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार ॥

वास्तव में यदि देखा जाये तो राजहंस पत्र का छात्रों में लिखने की प्रवृत्ति पैदा करने में एक प्रमुख हाथ रहा। इस पत्र में सम्पादित अनेक लेख 'गुरुकुल-पत्रिका' में भी शोभित हुए। जिनसे छात्रों ने प्रेरणा प्राप्त की।

**५- संस्कृतोत्साहिनी सभा :-** यह सभा ब्रह्मचारियों में संस्कृत की वक्तृत्व एवं लेखन कला को उन्नत बनाने के लिए २३ आषाढ सम्वत् १९६८ को स्थापित की गयी थी। इस सभा के अधिवेशन-सप्ताह में बृहस्पतिवार को होते थे। यह सभा संस्कृत सम्मेलन, कविता सम्मेलन, प्रतिभा सम्मेलन आदि का संयोजन करती थी। उत्सव पर जिस समय ब्रह्मचारी इस सम्मेलन में संस्कृत श्लोकों की अनन्याक्षरी करते थे तथा संस्कृत में भाषण देते थे तो जनता भाव-विभोर हो, गद्-गद् हो जाती थी। इस सभा का मुख्य पत्र हस्तलिखित निकलता था, जिसका नाम था - 'देव गोष्ठी'। इसमें लेख और संस्कृत की छन्दोबद्ध रचनायें होती थी।

**६- विज्ञान परिषद :-** संसार में विज्ञान की प्रगति को मध्ये नजर रखते हुए ब्रह्मचारियों में विज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए 'विज्ञान-परिषद' का गठन १५ ज्येष्ठ १९८७ विक्रमी को किया गया था। सभा की ओर से हस्तलिखित 'विज्ञान-पत्रिका' भी निकलती थी।

**७- आयुर्वेद परिषद् :-** गुरुकुल में वेद व साधारण महाविद्यालय के साथ आयुर्वेद महाविद्यालय का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान था। इस सभा की स्थापना २० आषाढ सम्वत्

१९७६ को हुई थी। इस सभा का उद्देश्य ब्रह्मचारियों को आयुर्वेद का ज्ञान कराना था। इस सभा द्वारा हस्तलिखित आयुर्वेद-पत्रिका का भी प्रकाशन होता था। जिसमें ब्रह्मचारियों के आयुर्वेद व एलोपैथी पर विचारपूर्ण लेख होते थे। यही कारण है कि गुरुकुल ने बड़े-बड़े आयुर्वेदालंकार समाज को दिए। इस सभा के तत्वावधान में वार्षिकोत्सव पर 'आयुर्वेद-सम्मेलन' का आयोजन भी चरमोत्कृष्ट होता था।

८— कॉलेज यूनिशन :- यह सभा अपना सारा कार्य अंग्रेजी में करती थी। बुद्धवार को इसका साधारण अधिवेशन होता था।

९— हिन्दी साहित्य मण्डल :- यह वाग्वर्धिनी सभा की एक शाखा थी। १५-१५ दिन के अन्तर से इसके अधिवेशन गोष्ठी के रूप में होते थे। उस समय के प्रसिद्ध समालोचक व साहित्यकार पं० पदम सिंह शर्मा ने इसकी अति सराहना की थी। यह सभा गुरुकुल वि०वि० के पुस्तकालय के लिए प्रतिवर्ष हिन्दी के उत्तम-उत्तम ग्रन्थ लेखकों और कवियों से मंगाती थी।

१०— वाग्विकासिनी और वाग्विलासिनी सभा :- उपरोक्त सभा समितियों के अतिरिक्त ब्रह्मचारियों में भाषण शक्ति को बढ़ाने के लिए इन दो सभाओं की स्थापना की गयी थी। इस तरह गुरुकुल में इन विशिष्ट कार्यक्रमों के द्वारा ब्रह्मचारियों में कुछ बनने की भावना जागृत होती थी। वे निठल्ले या निष्कर्मा नहीं बैठ सकते थे। ऊल्लजुलूल बातों के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं था। बस कुछ बनने और बनाने के भाव ही अहर्निश ब्रह्मचारियों और गुरुजनों को चैन नहीं लेने देते थे।

इस प्रकार इन हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाओं और गोष्ठियों के द्वारा जो रचनायें ब्रह्मचारी अपने परिश्रम से प्रयास में लाते थे, उन्हें बाह्य-जगत तक विस्तार देने का कार्य 'गुरुकुल-पत्रिका' ने किया। यह गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल के उद्देश्यों, उसके विकास, उसकी आगामी उन्नति, भविष्य में होने वाली उपलब्धियों तक में प्रकाश डालती थी। गुरुकुल में पढ़ने वाले प्रत्येक ब्रह्मचारी (विद्यालय अथवा महाविद्यालय) के घर यह पत्रिका अवश्य जाती थी। इसमें गुरुकुल समाचार का स्तम्भ मुख्य आकर्षण होता था। गुरुकुल परिसर में होने वाली समस्त गतिविधियों, विभागों के क्रिया-कलापों, ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य व उनकी उपलब्धियों, गुरुकुल में आने वाले दान, आने वाले मुख्य अतिथियों, उनके स्वागत-सत्कार का सभी विवरण यह पत्रिका देती थी। गुरुकुल का ऋतुरंग, जलवायु, तापमान का ब्यौरा, पुरानी पत्रिकाओं में आज भी देखा जा सकता है। गुरुकुल में होने वाले त्यौहारों व वार्षिकोत्सव के सभी दिनों का वर्णन इसमें होता

था। उच्च कोटि के लेखों से तो यह पत्रिका सुशोभित ही रहती थी। वैदिक वाङ्मय पर, साहित्य, संस्कृति व इतिहास पर उच्च स्तरीय समसामयिक लेख एवं काव्य रचनायें इस पत्रिका की धरोहर हैं। गुरुकुल पत्रिका में ही एक 'साहित्य-परिचय' या समीक्षा तथा 'सम्पादक-टिप्पणी' के स्तम्भ होते थे। जिसमें आगत पुस्तकों की विविध विषयों पर समालोचनापरक टिप्पणी होती थी। सम्पादक टिप्पणी में समसामयिक विषयों पर वस्तु परक आख्या होती थी।

कुछ वर्षों तक तो इसका प्रकाशन 'संस्कृत-भाषा' में भी होता रहा। वहाँ पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड की लालित्य पूर्ण भाषा शैली एवं श्री पं० भगवद्दत्त जी की शिवराज-विजय की भाषा शैली पर ओजपूर्ण एवं सरल संस्कृत भाषा के दर्शन उन अंकों में देखने को मिल जाते हैं। इन्द्र जी का भारतैतिह्यम्, पं० वागीश्वर जी की साहित्य सौदामिनी तथा पं० विद्यानिधि जी भैसवाल व पं० नृसिंह देव जी व्याकरणाचार्य व निगमशर्मा जी के संस्कृत लेख इस पत्रिका का महत्व बढ़ाते हैं।

इस प्रकार यह पत्रिका उन्नत पत्रिकाओं में गिनी जाती रही है। इस पत्रिका के कलेवर को सम्पादित करने व सुन्दर रूप देने में जहाँ सर्वश्री इन्द्र जी, सत्यव्रत जी, रामेश वेदी जी, पं० सुखदेव जी, पं० शंकर देव जी, पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, पं० भगवद्दत्त जी, प्रो० निगम जी, प्रो० रामाश्रय मिश्र जी लगे रहे वहीं वर्तमान में प्रो० महावीर अग्रवाल, प्रो० भारतभूषण विद्यालंकार, प्रो० जयदेव जी एवं मेरे विद्यागुरु डा० विष्णुदत्त जी राकेश उन्नति शील बनाने में प्रयत्नशील हैं। अब यह विश्वविद्यालय की 'शोध-पत्रिका' के रूप में संस्थापित है। गुरुकुल-पत्रिका होते हुए भी- 'गुरुकुल-समाचार' न होना शायद इसकी विवशता है। इस पत्रिका ने समय-समय पर उच्च कोटि के विशेषांक भी पाठकों को हस्तगत कराये, जिनमें कुछ प्रमुख थे- 'स्वर्ण जयन्ती विशेषांक, श्रद्धानन्द विशेषांक, शिक्षा विशेषांक, हीरक जयन्ती विशेषांक, गुरुकुल शिक्षा विशेषांक, आयुर्वेद विशेषांक, वेदों में आयुर्वेद विशेषांक। १९६६ में जस्टिस महावीर सिंह अंक, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, वेद विशेषांक, आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार विशेषांक।

उपरोक्त विवरण के पश्चात् अब हम लेख के हृदय को संकुचित करते हुए गुरुकुल इतिहास के एक ऐसे युग का भी वर्णन करना अवश्य चाहेंगे जब गुरुकुल पत्रिका ही नहीं अपितु परिसर में अनेक-विध - 'ध्रुव, प्रह्लाद, विज्ञान-पत्रिका, वैदिक पथ, शोध भारती, आदि पत्रों का नियमित प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। गुरुकुल-पत्रिका के भी अनेक महत्वपूर्ण अंक प्रकाशित हुए। जैसे - १- रवीन्द्र कवीन्द्र अंक (मई १९७६ ई०), २- आर्यभट्ट अंक (अप्रैल

१९७६ ई०) ३- सरदार भगत सिंह अंक (मार्च १९७६ ई०), ४- महर्षि दयानन्द अंक (फर० १९७६) ५- लाजपतराय अंक (जन० १९७६) ६- श्रद्धानन्द अंक (दिस० १९७५) ७- नेहरु अंक (नव० १९७५) । इस प्रकार गुरुकुल में इस युग के सूत्रधार थे- कुलपति बलभद्र कुमार हूजा । उन्होंने गुरुकुल को एक हीन भावना से ऊपर उठाकर उस समय एक नयी भावना का संचार किया । सर्वत्र वेदध्वनि का संचार कर, देव कुल बनाने में लगे रहे । पुराने गुरुकुल की और काँगड़ी ग्राम की पुण्य स्मृतियों और गतिविधियों को वर्तमान गुरुकुल से जोड़कर नये संदर्भ को जन्म दिया । उनके काल में जो विविध पत्र-पत्रिकायें एवं गुरुकुल पत्रिका प्रकाशित हुईं उनके माध्यम से लोगों ने पुनः गुरुकुल के वर्चस्व को जाना और समझा । इन पत्र-पत्रिकाओं से छात्रों में पुनः लिखने और पढ़ने की आदत का संचार हुआ । गुरुजनों के खोजी एवं पठनीय लेख भी इन पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आए ।

वास्तव में यदि गुरुकुल में- विद्यालय या विश्वविद्यालय स्तर पर पाक्षिक या मासिक अधिवेशन के रूप में- साहित्यिक, धार्मिक, राजनैतिक सांस्कृतिक, सामाजिक, क्रीडात्मक एवं भाषणात्मक प्रतियोगिताओं का निरन्तर समायोजन हो तो अनेक प्रतिभा-सम्पन्न छात्र आज भी आगे आ सकते हैं । साथ ही विश्वविद्यालय परिसर में होने वाले आयोजन या गोष्ठियाँ जिनमें बाहर के विद्वान, या साहित्यकार, राजनेता आते हैं वें सीनेट-भवन में न होकर विश्वविद्यालय-भवन या वेद-मन्दिर में आयोजित हों और उसमें गुरुकुल के सभी विभागों के छात्र एवं शिक्षक अनिवार्य रूप से आमन्त्रित हों तो एक नया माहौल बनाया जा सकता है । इस ओर यदि निष्ठापूर्वक, कुलीय भावना के अनुरूप कार्य हो तो अनेक जहरीली बाह्य-प्रवृत्तियाँ भी अपने आप समाप्त होकर एक अच्छे वातावरण और अच्छी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हो सकता है । गुरुकुल उद्यान को नये-नये प्रतिभा-सम्पन्न पुष्प मिल सकते हैं जो इसकी सुगन्ध को दूर-दूर तक फैला सकते हैं । ये पत्र-पत्रिकायें तो मन को टटोल कर कुछ कह जाती हैं । इनमें अंकित लेख, गल्प, कविता, साहित्य-चर्चा, राजनैतिक व धार्मिक चर्चायें कुछ विचार मंथन कर ही जाती हैं । गुरुकुल ने तो सभी प्रकार का साहित्य-मंथन किया है । कर रहा है । पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जो गुरुकुल ने दिया उसे कम नहीं आंका जा सकता ।

सत्य ही यह 'गुरुकुल पत्रिका' गुरुकुल के इतिहास का वर्णन करती हुई भी राष्ट्र की साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व धार्मिक चेतना का भी प्रतिनिधित्व करती है । इस पत्रिका ने सदा ही गुरुकुल का वर्चस्व बढ़ाया है । यश द्विगुणित किया है । लेख को अपनी कुछ भावनाओं से समाप्त करता हूँ -

लेखनी के धनी गर बिक जायेंगे ।

गूंगा होगा वतन जुल्म बढ़ जायेंगे ॥

भाषा बिक जायेगी, भेद बढ़ जायेंगे ।

आदमी, आदमी से, दूर हो जायेंगे ॥

स्वर को बाँधा अगर, छन्द मर जायेंगे... लेखनी...

घूसखोरी व चोरी बढ़ेगी यहाँ ।

शान मिट्टी में अपनी मिलेगी यहाँ ।

लेखनी गर झुकी लोग झुक जायेंगे ...

कौन पूछेगा मीरा व रसखान को ।

सूर तुलसी के प्यारे भगवान को ।

लेखनी गर बिकी गीत बिक जायेंगे...

देश की रुह में, शोले भरकर जियो ।

‘हल्दी घाटी’ व ‘जौहर’ की भाषा लिखो ।

भाव-भाषा संवारो, मन बदल जायेंगे....

प्यार की बात को, प्यार से ही लिखो ।

न सोचो अधिक, कुछ तो, अपना लिखो ।

‘नीर’ लिखते रहो, दिन संवर जायेंगे... लेखनी....

अन्त में आर्य पथिक अमर शहीद पं० लेखराम जी के शब्द याद करें - ‘आर्य समाज से लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए ।’ पत्रिका के स्वर्ण जयन्ती वर्ष पर सबका अभिनन्दन-वन्दन ।

- महावीर ‘नीर’ विद्यालंकार  
गुरुकुल काँगड़ी विद्यालय-विभाग,  
हरिद्वार ।



# कैसे गीत गायेँ हम ?

कैसे गीत गायेँ हम?  
कैसे गुनगुनायेँ हम?  
जीवन-नगरी में हर्ष को  
कैसे बढ़ायेँ हम?  
यम - नियम के ताग टूटे,  
कसमसाती साधना,  
स्वार्थ - लोलुप एषणा से,  
खिलखिलाती यातना,  
चूम पल्लव - ग्रहिता-मुख  
छलछलाती नामना,  
पंक - गलियो में भटक कर  
सकपकाती कामना,  
अड गयी जड़ता मचल कर,  
साधनों के सौध में,  
शिव भाव झुलसते देख,  
कैसे मुस्करायेँ हम?  
कैसे गीत गायेँ हम?  
सब तरफ फैली हुई है,  
विष-पगी कुटिला व्यथा,  
भूमि-तत्त्वों को गटक कर,  
बढ़ गयीं पंकिल प्रथा,  
विवश धूमिल पंगु जैसा  
साध्य पापों से नथा,  
द्रोह कलहाकुल 'मलनि' पर,  
लिख रहा छल की कथा,  
सार्थ वार्हों में भरा भय,  
घोर कुत्सित चौर्य का,  
हड़बड़ाहट में उलझे  
कैसे लक्ष्य पायेँ हम?  
कैसे गुन गुनायेँ हम?

विधि- निषेधों के उभयतोपाश में  
 फँस सर्जना,  
 पक्ष तज सत्यम् शिवम् का,  
 पाल बैठी वर्जना,  
 ध्वंस के धूमिल क्षितिज से  
 धरधरायी अर्जना,  
 नाश का उमड़ाव लखकर,  
 जाग गरजी तर्जना,  
 घौंस का आतंक लखकर,  
 बुद्धिजीवी थम गये,  
 बाँधे ठिठके पगों में कैसे स्फूर्ति लायें हम?  
 कैसे गीत गायें हम?  
 राष्ट्र-भक्तों की धवल-सी  
 अर्थियाँ उठने लगीं,  
 शोक की 'धुन' के सहारे,  
 ब्रिथियाँ तनने लगीं,  
 मातमों की आड़ लेकर,  
 आँधियाँ जुटने लगीं,  
 कलह की मदिरा पिये सब  
 बादियाँ मिटने लगीं,  
 बुद्धि के लोचन मुँदे-से,  
 आँसुओं को सहेजे,  
 अध-भटके माँझियों से  
 कैसे शक्ति पायें हम?  
 कैसे गुनगुनायें हम?  
 फूल असली गंध खोये  
 फँस प्रदूषण में मिटे,  
 फल विफल, तरु-पात व्याकुल,  
 पशु विवश बेदम घटे,  
 झुण्ड संब हरियालियों के  
 स्वार्थ - बाँके से कटे,  
 वन्य प्राणी मृत,  
 मिलावट के नमूने ही पटे,

सहमती धूल में भी  
धूम की दहशत भरी है,  
तन की निस्सारता पर  
कैसे खिल खिलायें हम?  
कैसे गीत गायें हम?  
घोर कुण्ठा की परिधि में,  
दिल दुबकना चाहता,  
फँस निठल्लू कल्पना में,  
उर सुबकना चाहता,  
आत्म-पीड़न के विपिन में  
'चित्' भटकना चाहता,  
घृण्य दोषों की गली में  
शिव अटकना चाहता,

रात का सारा सगापन  
क्रोध का तोड़ा मिटा,  
सूना-सूना बेसुरा  
कैसे गुद गुदायें हम?  
कैसे गुनगुनायें हम?  
मालियों ने बेरुखी से किया उद्यान सूना,  
रक्षकों पर दोष थोपें,  
पाल अपमान दूना,  
दृढ़, भूमि दुकडों में बँटी,  
ऋक्य में लगा चूना,  
शव-सदृश उपलब्धि-रसि को,  
गण न चाहता छूना,

तीव्र झंझावत में  
ठहरना दुष्कर हुआ है,  
आहत बेसुध से बने  
कैसे चमचमायें हम?  
कैसे गुनगुनायें हम?



स्वस्थ तरुणों में बुढ़ापा,  
 शान्त शिशुओं में घुटन,  
 मोह से मूच्छित किया  
 लोभ ने उपकार का तन,  
 उग्रता सब ओर पनपी,  
 भ्रष्ट सम्पूर्ण साधन,  
 रूप, रूपया, अचिर सत्ता  
 का बढ़ा प्रिय उपासन,  
 सूर्य पर धब्बे लगे हैं,  
 चाँद भी धुँधला-बुझा,  
 पंकिल कलुष अपनाकर,  
 कैसे तम भगायें हम?  
 कैसे गीत गायें हम?  
 विघ्न अड़ अवसर-कुअवसर,  
 चाहते हैं टोकना,  
 सामने अवरोध आकर  
 चाहते हैं रोकना,  
 विश्वासघातों के घनों से  
 चाहते युग ठोकना,  
 धृष्ट से धोखे छुरा भी  
 चाहते हैं भोकना,  
 मौत हर पल लूटने को  
 व्यग्र तत्पर दीखती,  
 होकर कर्म के चाकर,  
 कैसे भोग पायें हम?  
 कैसे गुनगुनायें हम?

क्रमश.....

- डॉ० भैरवदत्त शुक्ल  
 जाबालि आश्रम, तिकुनिया  
 खीरी, उ०प्र० - २६२६०६



